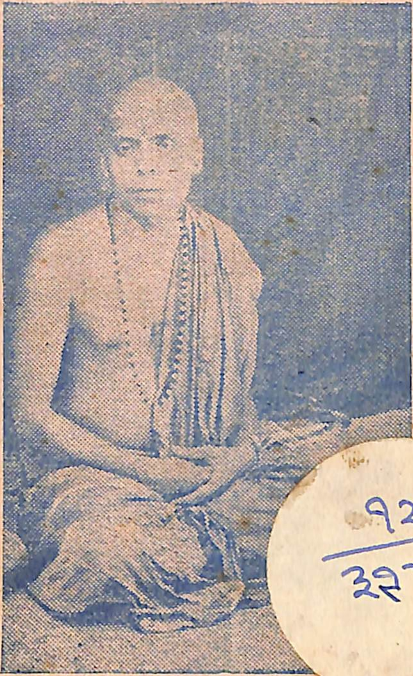
कालीस्वरूपतत्त्व



श्री श्यामानन्द नाथ

काली स्वरूप तत्व

लेखक

श्री श्यामानन्द नाथ

प्रकाशक

कल्याण मंदिर, कटरा, प्रयाग

प्रथम संस्करण]   २००३   [दक्षिणा ।=)

निवेदन

शाक्तागमों में दश महाविद्याओं की साधना की बड़ी महिमा है। दशों महाविद्याएँ पराम्बा के आदि रूप के रूपान्तर मात्र हैं—उसकी विभूतियाँ या अवतार रूप नहीं हैं। और दशों महाविद्याओं में आद्या काली जी की मूर्ति है। उन्हीं के वास्तविक तत्व के विवेचन की धृष्ठता इस निबन्ध में मैंने अपनी अल्प मति के अनुसार की है। यह निबन्ध 'चन्डी' में छप चुका है। जगदम्बा के भक्तों के पसंद आने के कारण लघु पुस्तिका रूप में अब यह प्रकाशित हुआ है। आशा है, जगज्जननी काली के भक्त इसका अनुशीलन कर उनका साक्षात्कार करने की साधना में प्रवृत्त होंगे।

पचही ड्योढ़ी (दरभंगा) निवेदक
पौष सोमवती अमावास्या श्री श्यामानंद नाथ
संवत् २००३

काली-स्वरूप-तत्व

१—तत्वनिरूपण

नमः श्रीगुरवे ।

ॐ शन्नः कौलिकः शन्नो वारुणी शन्नः शुद्धिः शन्नोऽग्नि शन्नः सर्वमभवत् । नमो ब्रह्मणे नमः पृथिव्यै नमोऽदद्मो नमोऽग्नये नमो वायवे नमो गुरुभ्यः । त्वमेव प्रत्यक्ष खैवासि । त्वामेव प्रत्यक्षं तां वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् (स्वाहा)—कौलोपनिषत् ।

साधारण जनता क्या शिक्षित समाज में भी भगवती-तत्व विशेषतः आद्या (काली) तत्व के विषय में महान भ्रम हैं । अन्य शास्त्रज्ञाता [1] लोग भी अर्थ

---

[1] "न मीमांसका नैव काणादितर्का न सांख्या न योगा न वेदान्तवेदाः । न वेदा विदुस्ते निराकारभावं त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।"—महाकालसंहितोक्तसुधाधारास्तवः

का अनर्थ ही कर भूल में पड़े हुए हैं। जैसे "दुर्गा" शब्द का अर्थ दुर्ग नाम के राक्षस को मारनेवाली देवी ही समझ बैठे हैं, वैसे ही काली, जो आद्या भगवती है और दश महाविद्याओं में आदि महाविद्या है, उसके स्थूल ध्यान का अन्ट-सन्ट अर्थ कर महा भ्रम में हैं। मैं उन्हीं लोगों के समक्ष यह संक्षिप्त निवेदन करता हूँ, इसी आशा से कि उनका भ्रम शायद इस अज्ञ और तुच्छ लेखक की निर्बल लेखनी द्वारा कुछ अंश तक दूर हो जाय। मैं सर्वथा अक्षम हूँ, जब कि ब्रह्मादि भी उसके बारे में कह नहीं सकते। जैसा कि श्रीचण्डीस्तव में लिखा है—"यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो ब्रह्माहरश्च नहिं वक्तुमल वलञ्च।" तथा "न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।"

भावार्थ यह हुआ कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी तुझ अपारा को नहीं जानते तो तेरे विषय में कह ही क्या सकते हैं? इस अवस्था में मुझ सा

अज्ञानी क्या कह सकता है ? मैं अन्धा होकर राह बताने चला हूँ। मूक हो व्याख्यान देने चला हूँ। इस उपहासयोग्य धृष्ठता को विज्ञ क्षमा करें। अस्तु, "अन्ध हस्ती न्याय" वत् चेष्टा करता हूँ।

काली का शब्दार्थ है—कालः[१] अर्थात् शिवः तस्य पत्नी, काली (काल+ङिप्) अर्थात् शिव की स्त्री। वैसे तो शाब्दिक (वैयाकरण अर्थात् व्याकरणशास्त्र के ज्ञाता) इस काली शब्द का तीनों लिंगों यानी पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग के रूपों में इस प्रकार से अर्थ करते हैं—कालः अस्यास्ति इति काली इति पुल्लिंगः। कालो वर्णो यस्य तत् कालि

---

[१]काल की परिभाषा शक्तिसंगम में इस प्रकार है—

"काली माया समद्भूतः काली मानसिकः शिवः।
महाकालः परः शम्भुः परातीत गुणाकरः॥"

महाभाष्य की परिभाषा ऐसी है—"येन मूर्त्तीनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः॥"

(कालिन् इति नपुंसकलिंगः)। हमें शाब्दिक जालों में उलझना नहीं है, किन्तु काली शब्द से जो साधारणतया बोध होता है, उसकी विवेचना करनी है। वैसे तो "काली" का एक अर्थ मसी (रोशनाई) भी है। शब्द का महत्व भाव में रखा है। शब्द तो भाव के द्योतक मात्र हैं। नाम, रूप इत्यादि सभी कल्पित हैं। जैसा कि शास्त्र कहता है—"एषैव पारमेश्वरी मूलशक्तिः दुर्बलाधिकारिणामुपासनासौकर्याय तन्त्रादिशास्त्रेषु काली तारादिविविधनामरूपैः कल्पिता।" अर्थात् यही परमेश्वरी मूलशक्ति दुर्बलों अर्थात् साकार उपासकों की सुविधा के निमित्त तंत्र आदि शास्त्रों में काली, तारा इत्यादि विविध प्रकार के नाम और रूपों से कल्पित है। महानिर्वाणतन्त्र भी कहता है:—"अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः। गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना।" अर्थात् अरूपा यानी निराकारा और

कालमाता (काल को उत्पन्न करनेवाली) महा प्रकाशवती काली के गुण और क्रिया रूप ध्यान की कल्पना होती है।

अस्तु काली शब्द से जन साधारण को देवी का ही बोध होता है। किन्तु मुख्य प्रश्न यही है कि यह देवी कैसी है, कौन है यानी इसकी परिभाषा क्या है? अर्थात् काली[1] शब्द से क्या बोध होता है? जब कि काली का वर्णन, आविर्भाव(क्योंकि महा-शक्ति अजा अर्थात् जन्म नहीं लेने वाली हैं) आदि अनेक अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के विभिन्न शास्त्रों में मिलते हैं। जैसे मार्कण्डेयपुराण (सप्तशती) में की

---

[1]कालिका शब्द इस प्रकार बनता है—क+आ+ल+इ+क+आ। क अर्थात् ब्रह्म, आ अर्थात् अनन्त, ल-विश्वात्मा, इ-सूक्ष्म, क-ब्रह्म आ-अनन्त। इससे देवी का आद्यन्तरहितत्त्व, अनन्तत्व, सूक्ष्मत्व और विश्वात्मकत्व का बोध होता है।

काली, जो अम्बिका के ललाट से निकलीं, काली पुराण की काली से भिन्न हैं। जहां सप्तशती में वर्णित काली का ध्यान ऐसा है—"काली करालवदना विनिष्क्रान्ताऽसिपाशिनी" इत्यादि, वहाँ कालीपुराण में ऐसा है—

"नीलोत्पलदलश्यामा चतुर्बाहुसमन्विता।
खट्वांगं चन्द्रहासञ्च बिभ्रती दक्षिणे करे॥
वामे चर्म्मं च पाशञ्च उर्ध्वाधो भावतः पुनः।
दधती मुन्डमालाञ्च व्याघ्रचर्मवराम्बरा॥
कृशांगी दीर्घदंष्ट्रा च अतिदीर्घातिभीषणा।
लोलजिह्वा निम्नरक्तनयना नादभैरवा॥
कवन्धवाहना पीनविस्तारश्रवणानना॥"

इत्यादि अनेक वर्णन मिलते हैं। दक्षिणकालीमन्त्र-विग्रहहृदय (यह छपा नहीं है) में इस प्रकार का ध्यान[1] है—तुच्छश्यामां कोटराक्षीं प्रलयघनघटां घोर-

[1]ध्यानेन लभते सर्वं ध्यानेन विष्णुरूपकः। [निर्वाण-तन्त्र

रूपां चन्डां दिग्वस्त्रां पिंगकेशीं डमरुसृणिधृतां खड्ग-पाशाभयानि ॥ नागं घन्टां कपालं करसरसिरुहैः कलिकां कृष्णवर्णां ध्यायामि ध्येयमानां सकलसुखकरीं कालिकान्तान्नमामि ॥" यह प्रलयकालीन ध्यान है। ऐसा ही महाकालसंहिता के शकारादि विश्व-साम्राज्य श्यामासहस्रनाम[1] में निर्गुणद्योतक ध्यान है—"ब्रह्माविष्णुशिवास्थिमुन्डरसनां ताम्बूल रक्ताषां-म्बरां वर्षामेघनिभां त्रिशूलमुशले पद्मासिपाशांकुशां ॥ शंख साहिसुगंधृतां दशभुजा प्रेतासने संस्थितां देवीं दक्षिणकालिकां भगवती रक्ताम्बरां तां स्मरे ॥ विद्याऽविद्यादियुक्तां हरविधिनमितां निष्कलां[2] कालहन्त्रीं

---

[1]यह अभी तक छपा नहीं है। अपने यहाँ है। साधकों की इच्छा ज्ञात होने से भेजा जा सकता है।

[2]निष्कल और सकल यानी निर्गुण और सगुण ब्रह्म की व्याख्या शक्तिसंगम में इस प्रकार है—"बीजांकुर स्फटिकजं तद् ब्रह्म प्रकीर्तितम्। तदेव ब्रह्म चाख्यानं

भक्ताभीष्टप्रदात्रीं कनकनिधिकलां चिन्मयानन्दरूपां दोर्दण्डे चापचक्रे परिघमथ शरा धारयन्ती शिवस्थां पद्मासीनां त्रिनेत्रामरुणरुचिमयीमिन्दुचूडां भजेऽहम् ॥"
कृष्ण माता काली भगवती के ध्यान का भी उल्लेख करना यहाँ अयुक्त नहीं होगा। कालीविलासतन्त्र में इस प्रकार का ध्यान लिखा है—"ध्यानं चास्याः प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं नागनन्दिनि। येन ध्यानेन देवेशि चतुर्वर्गमवाप्नुयात् ॥ जटाजूटसमायुक्तां चंद्रार्द्धकृतशेखराम् पूर्णचन्द्रमुखीं देवीं त्रिलोचनसमन्विताम् ॥ दलिताञ्जन-संकाशां दशबाहु-समन्विताम् ॥ नवयौवनसम्पन्नां दिव्याभरणभूषिताम् ॥ सुचारुदशनां नित्यां सुधापुञ्जसमन्विताम्।

कालकालीमयं परम्। यावद् विवर्णितुं शक्यं तावत् सगुणतां गतम्। तदेव सगुणं ब्रह्म वर्णना शक्तिगोचरम्। वर्णनायामशक्तिर्हि यदा जाता महेश्वरि। तदेव निर्गुणं प्रोक्तं सगुणं वाच्यगोचरम् ॥' कला और गुण प्रायः एक ही पर्य्यायवाचक शब्द हैं।

शृंगाररससंयुक्तां। सदाशिवोपरिस्थिताम् ॥ दिङ् मण्डलोज्ज्वलकरीं ब्रह्मादिपरिपूजिताम् ॥ वामे शूलं तथा खड्गं चक्रं वाणं तथैव च ॥ शक्तिञ्च धारयन्तीं तां परमानंदरूपिणीम् ॥ खेटकं पूर्णचापञ्च।पाशमंकुशमेव च। घण्टाम्वा परशुं वापि दक्षहस्ते च भूषिताम्। उग्रां भयानकां भीमां भेरुडां भीमनादिनीम् ॥ कालिकाजटिलाञ्चैव भैरवीं पुत्रवेष्टिताम। आभिः शक्तिरष्टाभिः सहितां कालिकां परां ॥ सुप्रसन्नां महादेवीं कृष्णक्रोडां परात्पराम ॥ चिन्तयेत् सततं देवीं धर्मकामार्थमोक्षदाम् ॥" पुनः उसी कालीविलासतन्त्र में ध्यान इस प्रकार का है— "दलिताञ्जनसंकाशां चतुर्बाहुसमन्विताम्। खड्गमुण्डधरां वामे दक्षिणे चाभयं वरम् ॥ मुण्डमालाधरां नित्यां कटाक्षग्निशिखोज्ज्वलाम्। सिन्दूरतिलकोद्दीप्तां अञ्जनाञ्जितलोचनाम् ॥" इधर कादि, हादि, क्रोधादि, वागादि, नादि, दादि, और प्रणवादि क्रमों में ध्यान पृथक् पृथक् हैं। कादिक्रम का ध्यान तो सर्वविदित है। हाँ, ध्यान का तत्व या भाव! जाननेवाले विरलेही हैं।

कादिक्रम का ध्यान है—"करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजां । कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुन्डमालाविभूषिताम् ॥ सद्यः छिन्नशिरः खड्गवामाधोर्ध्वकराम्बुजाम् ॥ अभयं वरदञ्चैव दक्षिणोर्ध्वाधपाणिकाम् ॥ महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बरीम् । कन्ठावसक्तमुन्डाली गलद्रुधिरचर्चिताम् ॥ कर्णावतंसतानीत शवयुग्मभयानकाम् । घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधरीम् । शवानां करसंघातैः कृत काञ्चीं हसन्मुखीम् । सृक्कद्वयगलद्रक्तधारा विस्फुरिताननाम् । घोररावां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम् । बालार्कमन्डलाकार लोचनत्रितयान्विताम् । दन्तुरां दक्षिणव्यापि मुक्तालम्बिकचोच्चयाम् । शवरूपमहादेवहृदयोपरिसंस्थिताम् । शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षुसमन्विताम । महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम् । सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम् । एवं सञ्चिंतयेत्त कालीं सर्वकामार्थसिद्धिदाम् ॥

२ क्रोधक्रम का ध्यान ऐसा है—दीपं त्रिकोणं विपुलं सर्वतः सुमनोहरम् । कूजत् कोकिलनादाढ्यं

मन्दमारुतसेवितम् । भृंगपुष्पलताकीर्णसुद्यच्चन्द्रदिवाकरम् । स्मृत्वा सुधाब्धिमध्यस्थं तस्मिन् माणिक्यमन्डपे । रत्नसिंहासने पद्मे त्रिकोणोज्वलकर्णिके । पीठे सञ्चिंतयेत् देवीं साक्षात् त्रैलोक्यसुन्दरीम् । नीलनीरजसंकाशां प्रत्यालीढपदस्थिताम् चतुर्भुजां त्रिनयना खण्डेन्दुकृतशेखराम् । लम्बोदरीं विशालाक्षीं श्वेतप्रेतासनस्थिताम् दक्षिणोर्ध्वेन निस्तृशं वामोर्ध्वनीलनीरजम् । कपालं दधतीञ्चैव दक्षिणाधश्च कर्त्रिकाम् । नागाष्टकेन सम्बद्ध जटाजूटां सुरार्चिताम् । रक्तवर्तुलनेत्राश्च प्रव्यक्त दशनोज्ज्वलाम् । व्याघ्रचर्मपरीधानां गन्धाष्टकप्रलेपिताम् । ताम्बूलपूर्णवदनां सुरासुरनमस्कृताम् । एवं संचिंतयेत् कालीं सर्वाभीष्टप्रदां शिवाम् ॥

२ हादिक्रम का ध्यान—देव्या ध्यानमथो वक्ष्ये सर्वदेवोऽपशोभितम् । अञ्जनाद्रिनिभां देवी करालवदनां शिवाम् ॥ मुंडमालावलीकीर्णां मुक्तकेशीं स्मिताननाम् । महाकालहृदम्भोजस्थितां पीनपयोधराम् ॥ विपरीत-

रतासक्तां घोरदंष्ट्रां शिवेन वै । नागयज्ञोपवीताञ्च चन्द्रार्द्धकृतशेखराम् ॥ सर्वालंकारसंयुक्तां मुक्तामणि-विभूषिताम् । मृतहस्तसहस्रैस्तु बद्धकाञ्चीदिगम्बराम् ॥ शिवा कोटिसहस्रैस्तु योगिनीभिर्विराजिताम् । रक्तपूर्ण-मुखाम्भोजां मद्यपानप्रमत्तिकाम् ॥ सद्यः छिन्नशिरः खड्ग वामाध्वधिः कराम्बुजाम् । अभीवरदक्षोर्ध्वाधिः करां परमेश्वरीम् ॥ ब्रह्मर्कशशिनेत्राञ्च रणविस्फुरिताननाम् ॥ विगतासु किशोराभ्यां कृत कर्णावतंसिनिम् ॥

४ वागादि क्रम का ध्यान—चतुर्भुजां कृष्णवर्णां मुन्डमालाविभूषिताम् । खड्गञ्च दक्षिणे पाणौ विभ्रतीं सशरं धनुः मुन्डञ्च खर्परञ्चैव क्रमाद् वामे च विभ्रतीम् । द्या लिखन्ती जटामेकां विभ्रतीं शिरसा स्वयम् ॥ मुन्डमाला-धरां शीर्षे ग्रीवायामपि सर्वदा । वक्षसा नागहारन्तु विभ्रतीं रक्तलोचनाम् ॥ कृष्णवर्णधरां दिव्यां व्याघ्राजिनसमन्वि-ताम् । वामपादं शवहृदि संस्थाप्य दक्षिणं पदम् ॥ विन्य-स्य सिंहपृष्ठे च लेलिहानां शवं स्वयम् । साट्टहासां महा-शवयुक्तां विभिषणाम् ॥ एवं विचिन्त्या भक्तैस्तु कालिका

परमेश्वरी । सततं भक्तियुक्तैस्तु भोगैश्वर्य्यमभीप्सुभिः ॥

५ नादिक्रम का ध्यान—खड्गञ्च दक्षिणे पाणौ बिभ्रतीन्दीवरद्वयम् कर्त्रकां खर्परञ्चैव क्रमाद् वामेन बिभ्रती ॥

अन्यच्च वागादिक्रमध्यानवत्

६ दादिक्रम का ध्यान—सद्यः कृन्तशिरः खड्गमूर्ध्वद्वयकराम्बुजाम् । अभयं वरदं तद्वद् योद्धय करन्विताम् ॥ इत विशेषोऽन्यत् सर्वं कादिक्रमध्यानवत् ॥

७ प्रणवादि क्रम का ध्यान—सर्वं कादिक्रमे ध्यानवत ॥

यहाँ पर कादि क्रमों की व्याख्या देनी जरूरी है। कादि का अर्थ ककार शब्द जिन मन्त्रों के आदि अक्षर से प्रारम्भ होते हैं एकाक्षर मन्त्र 'क्रीं'[1] से लेकर

---

१ नारदपंचरात्रमें इस एकाक्षर मन्त्र 'क्रीं' बीज का ऐसा महात्म्य वर्णित है—"विश्वामित्रो मुनिश्रेष्ठ आराध्य

अयुताक्षर (दस हजार अक्षर वाले) मन्त्र तक। इनमें एकाक्षर, पञ्चाक्षर, षोडशाक्षर (इसके बारे में शास्त्र इतना महत्व कहता है कि "राज्यं देयं शिरो

कमलासनम्। नावाप ब्राह्मणत्वं हितो विष्णुं जगाम सः॥ तस्मादपि न चावाप ब्रह्मत्वं क्षत्रियोत्तमः। एवं सर्वान् गत्वा आराध्य च पुनः पुनः। वृहस्पतेरुपदेशादाराध्य वृषभध्वजम्। महेशदर्शनं लब्ध्वा कृतकृत्योऽभवत्तदा। देवदेव महादेव भगवंस्त्वं कृपामय। ब्राह्मणत्वं देहि मह्यं यदि ज्ञातासि मे वरम्। ईश्वर उवाच-एकाक्षरी महाविद्या कालिकायाः सुदुर्लभा। जप कुरु महाबाहो ततः प्राप्स्यसि विप्रताम्। एवमुक्त्वा महादेवोऽप्यंतर्द्धानं जगाम सः। विश्वामित्रोऽपि विधिना आराध्य तां जगन्मयीम्। मंत्रसिद्धिं न चावाप क्रोधेन च शशाप ताम्! अनाराध्या भवेत त्वं आगम्य तु ततः शिवम्। निर्भर्त्स्य बहुधा तन्तु इदमाह महेश्वर।ईश्वर उवाच-किमर्थं शप्तवान् विद्यां शृणु यत्नेन पार्थिव रेफारूढककारेण सिद्धिमाप्स्यसि नान्यथा। ब्रह्मोवाच अंत-

देयं न देया षोडशाक्षरी), शताक्षर और अयुताक्षर (अपने को इतना ही प्राप्त है, किन्तु सुनते हैं कि पटियाला-नरेश के पुस्तकालय में लक्षाक्षर मन्त्र भी है)। हादि का अर्थ है 'ह्रीं' अक्षर जिस मन्त्र का आदि अक्षर हो। क्रोधादि का अर्थ है 'हूं' अक्षर

र्द्धानं गतः शम्भुर्विश्वामित्रोऽपि नारद तथा त्रिधानं जप्त्वा तु यदुक्तं शम्भुना पुरा। साक्षाद् बभूव सा काली सह रुद्रेण तत्क्षणात्। देव्युवाच वरं वरय राजेन्द्र ददामि ते वरं शिवम्। यदिच्छसि प्रदास्यामि सत्यं सत्यं न संशयः। विश्वामित्र उवाच-आराधिता मया सर्वे ब्रह्माद्या देवता-गणाः। विप्रत्वं केन मे देवि न दत्तं त्वं प्रदेहि मे। श्रुत्वा वाक्यं नृपस्याशु सा देवी स्वामिनो मुखम्। निरीक्ष्येङ्गितभावेन संकेतेन उवाच तम् महादेवोऽपि तद् ज्ञात्वा प्रीतिभावेन शङ्करः। हस्ताभ्यामपि चालिंग्य विप्रत्वं प्रददौ ततः। तत्क्षणादपि राजासौ विप्रत्वं गतवान् ध्रुवम्। सर्व-शास्त्रैकनिपुणः सर्वशास्त्रैकपारगः॥"

(मन्त्र या वीज) जिस मन्त्र का आदि अक्षर हो। नादि उसे कहते हैं, जिसके आदि में 'नमः" शब्द हो। दादि उसे कहते हैं, जिसमें 'द' अक्षर आदि में हो जैसे "दक्षिणे कालिके स्वाहा", "दक्षिणे कालिके फट्" इत्यादि। वैसे ही प्रणवादि उसे कहते हैं, जिसमें प्रणव अर्थात् 'ॐ' प्रथम वीज हो अर्थात् 'ॐ' से आरम्भ हो। अस्तु काली के ध्यान (रूप) अगणित हैं और ये निर्गुणद्योतक तथा सगुण-द्योतक दोनों हैं। विराटरूपद्योतक ध्यान भी है, जैसा कि गीता (कालीगीतानन्द्यावर्ततन्त्रोक्त) में है। यथा—'सूर्य्य और चन्द्रमा दोनों कुन्डल हैं। ताराओं (नक्षत्रों) का हार या माला है। ब्रह्मा के सर का खप्पर है।' इत्यादि। "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।" हम लोग अन्धे (अज्ञानी) हैं, उस विराट् निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप की भावना तक नहीं कर सकते। हाँ, 'माँ" की अनु-

कम्पा हुई तो आंशिक अपूर्ण रूप से उसकी झलक पाजाते हैं। बस, उसी को पूर्ण कला मानकर तृप्त होते हैं। "अन्ध हस्ती न्याय" इसी आधार पर कहा गया है। कहते हैं कि किसी नगर में सबके सब अन्धे थे। एक हाथी वहाँ आया, सबके सब दौड़े। किसी ने उसका पांव मात्र छू पाया तो किसी ने कान ही। किसी ने दुम तो किसी ने सूंड। जो पांव छू सका था, वह कहने लगा कि हाथी उखली सा होता है और जिसने कान छुआ था, वह कहने लगा कि हाथी उखली सा नहीं होता है, किन्तु सूप जैसा होता है। इसी तरह दुम के छूने वाले ने उसे रस्सा और सूंड छूने वाले ने मूसर जैसा बतलाया। किसी ने पूर्ण रूप से नहीं समझा और इसी हेतु आपस में झगड़ने लगे। बस यही झगड़ा सब जगह है। कोई कहते हैं कि काली तमोमयी है तो कोई कहते हैं "रजोरहिता शुद्ध सत्वात्मिका विरजा।" कोई कहते

हैं कि राक्षस को मारनेवाली तो कोई कहते हैं कि पाञ्चभौतिक (शरीरवाला) राक्षस नहीं अज्ञान (माया) रूपी राक्षस को मार कर यानी हटाकर मोक्षदात्री है। इसी तरह भिन्न भिन्न भाव से कल्पना करते हैं यानी उसे समझते हैं। कामना-भेद से भी ध्यान-भेद शास्त्रों में लिखा है। यह ध्यान-भेद षट्-कर्म यानी मोहन, वशीकरण इत्यादि में निर्धारित है। इसको प्रकाश करने से हानि की ही सम्भावना है, अतएव ऐसे ध्यान नहीं लिखे जा सके। कोई काली को शक्ति कहते हैं तो कोई शक्तिमान् बताते हैं। वैयाकरण यहाँ हंस देंगे और कहेंगे कि वाह, अच्छा लेख है। एक स्त्री को पुरुष कहता है क्योंकि शक्तिमान् शब्द पुल्लिंग है। किन्तु तनिक विचार से उन्हें मालूम होगा कि काली न पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक। जैसा कि महाकाल-कृत सुधाधारा-स्तव में लिखा है "न च स्त्री न षण्डः (नपुंसक) पुमान्नैव

च त्वम्..॥" इसलिये काली शक्तिमान्द्योतक पूर्ण ब्रह्म है, जो अपनी शक्तियों द्वारा सृष्टि, पालन और संहार करती है। जैसा कि कालतन्त्र कहता है—कालशक्त्या सर्वमिदं जगत् परिचालयति सैव काली प्रकीर्तिता यद्वा कालयति कलयति वा उत्पादयति पालयति प्रलये पुनरात्मन्येव विलापयति इति काली (कलिहलि कामधेनुरिति कलधातुः बह्वर्थबोधिनी)।" अर्थात् काली अपनी काल-शक्ति से जगत् को चलाती है यानी सृष्टि, पालन करती है और प्रलय का समय आने पर उसे अपने में तिरोहित (लय) यानी समेट लेती है। वेदव्यास भी महाभारत के शान्तिपर्व में कहते हैं कि कालशक्ति से ही सृष्टि होती है और पुनः लय होती है। यहाँ पर काली पुरुष है और काल (महाकाल) प्रकृति है। यही सब कुछ सृष्टि, स्थिति, संहारात्मक कार्य्य करता है। जैसा कि शास्त्रों ने कहा है—

१ कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः
सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चित-
स्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥
२ स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः
स ईयते प्रथमोनुदेवः ।
स एव संभुवनान्या भरत् स एव
संभुवनानि पर्य्यैत् ॥
पितासन्न भवत पुत्र एषां तस्माद्वै
नान्यत् परमस्ति तेजः ॥
कालोऽमूंदिवमजनयत काल इमाः
पृथवीरुतः
कालेहभूतं भव्यं चेषितं हवितिष्ठते ॥
३ काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्मसमाहितम् ॥
कालोह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥
कालः प्रजाअसृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भुः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत॥

४ इमञ्चलोकं परमञ्चलोकं पुण्यांश्च
लोकान् विधृतिश्च पुण्या:
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा काल:
स इयते परमोनुदेव ॥—(अथर्ववेद)

अर्थात्—

१—सूर्य्य स्वरूप काल ही अन्न उपजाता है, वही ब्रह्म-स्वरूप है। अजर यानी जीर्ण होनेवाला नहीं है, अत्यन्त वेगवान् है। बड़े बड़े विद्वान् उसी काल रूप रथ पर आरूढ़ रहते हैं अर्थात् उसी की चिन्तना में रहते हैं। यह दृश्यमान सकल संसार उसी रथ के चक्र के समान है।

२—उसी काल ने इन विस्तृत भुवनों का संहार किया, उसी ने सृष्टि की, उसी ने संसार का पोषण किया और वही प्रथम देव अर्थात् महा-देव कहाया है। काल ही पिता है, इसी का यह संसार पुत्र है। इससे बड़ा और कोई तेज अर्थात्

शक्ति नहीं है। काल ने ही इन दिनों को बनाया और इस पृथिवी को रचा। काल पर ही भूत और भविष्य सभी निहित हैं।

३—काल पर ही तप, ज्येष्ठ और ब्रह्म समाश्रित हैं। काल ही सबों का स्वामी है, जो प्रजापति का भी पिता है। काल ने पहिले प्रजापति को सिरजा, पश्चात् उसके द्वारा समस्त प्रजाओं की सृष्टि की। स्वयम्भू कश्यप और तप ये सभी काल ही से उत्पन्न हुए।

४ — इस लोक (मर्त्यलोक), परलोक और सभी विधृतियों को जीत कर यानी सब तत्वों से परे हो कर ब्रह्म द्वारा अर्थात् वेद में काल ही परम देव कहा गया है!

कोई काली का वर्ण काला बतलाते हैं, तो कोई रक्त भी बतलाते हैं। जैसाकि तन्त्रान्तर कहता है—
"कालिका द्विविधा प्रोक्ता कृष्णा रक्ता प्रभेदतः। कृष्णा व

दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता तु सुन्दरी (त्रिपुरसुन्दरी) मता।" बृहन्नीलतन्त्र भी कहता है—"इयं नारायणी काली तारा स्यात् शून्यवाहिनी। सुन्दरी रक्त कालीयतभैरवी नादिनी तथा॥" किसी ने माँ को दिगम्बरा कहा है और किसी ने रक्तवस्त्रा! जैसा कि महानिर्वाणतन्त्र कहता है—"मेघाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रक्ताम्बरं बिभ्रतीं पाणिभ्यामभयं वरञ्च विलसद् रक्तारविन्दस्थिताम्। नृत्यन्तं पुरतो निपीय मधुरमाध्वीक मद्यं महाकालं वदन विकासिताननवरामाद्यां भजे कालिकाम्॥" अब इस काले वर्ण का बिना समझे-विचारे लोग यह मतलब निकालते हैं कि संहार करने से वर्ण काला है। अधिक अज्ञानी लोग काले वर्ण से दुष्टता, करालता, तमोमयी इत्यदि बेहूदे अर्थ करते हैं। हरे हरे!! इससे बढ़कर भी पशुत्व (अज्ञानता) हो सकता है! जन-साधारणकी अज्ञानता तो क्षम्य है, किन्तु पण्डित मानी को क्या कहा जाय। नहीं,

असली बात तो यह है कि इनका कोई दोष नहीं। यह तत्व ही ऐसा गहन है। स्वयं महाकाल ने कालीस्वरूपाख्यस्तोत्र में कहा है "अनेके सेवन्ते भवदधिक-गीर्वाण निवहान्। विमूढास्ते मातः किमपि नहिं जानन्ति परमम्॥" अर्थात् बहुत से लोग तुझको छोड़ कर अन्य देवों की आराधना करते हैं यानी दूसरे दूसरे अपूर्ण कलायुक्त देवों की उपासना करते हैं। वे विचारशून्य अज्ञानी परम तत्व को नहीं जानते हैं। यह वास्तविक तत्व ऐसा ही गहन है। बिना योगी हुए इस परम गुह्य तत्व को नहीं जानसकता है। जैसा कि स्वयं कूर्म भगवान् ने कहा है—"सर्वं वेदान्तवेद्येषु निश्चित ब्रह्मवादिभिः। एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम॥ अनन्तमक्षरं ब्रह्म केवलं निष्कलं परमयोगिनस्तत् प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम्॥" परात्परतरं तत्वं शाश्वतं शिवमच्युतम। अनन्तं प्रकृतौ लीनं देवास्तत् परमं पदम्॥ शुद्धं निरञ्जनं शुभ्रनिर्गुण्-णांद्व तवर्जितम् आत्मोपलब्धविषयं देव्यास्तत् परमं पदम्॥,,

—कूर्म्मपुराण। योगी से यहाँ मतलब है लययोगी से, हठयोगी से नहीं। योग (मिलन) होना चाहिये शक्ति और शिव का, आत्मा-परमात्मा का। आत्मा शक्ति है, परमात्मा परम शिव। पुरुष एकमात्र ब्रह्म है और सभी शक्ति (प्रकृति)। कूर्म भगवान् ने देवी को अनन्त अक्षरब्रह्म कहा है। स्वयं भगवान् महाकाल ने इस देवी को अचिन्त्य यानी मनके परे, अमिताकार यानी जिसके आकार की सीमा नहीं, शक्तिरूपा अर्थात् चित् और माया[1] दोनों शक्ति वाली कहा है। इस अवस्था में अमिताकार अर्थात् विराट् आकारवाली के और सभी रूप कल्पित हैं। कल्पित का यहाँ यह भाव नहीं है कि रूप असत्य हैं। "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:—भगवान्

---

[1] काली माया, जिसका रूप महाकाल है, उत्पन्न करती है। तबसृष्टिक्रम चलता है। जैसा कि शक्तिसंगम कहता है—"अनादिरूपा श्रीकाली मायोत्पादनतत्परा।"

श्रीकृष्ण-गीता। अर्थात् "जो नहीं है, वह हो ही नहीं सकता और जो है, उसका अभाव भी नहीं होता। रूप सब ही सत्य हैं, किन्तु उसी के हैं। दूसरा तो है ही नहीं, जैसा कि स्वयं भगवती शुम्भ राक्षस से कहती हैं—"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितिया का ममापरा" अर्थात् "जगत् में मैं ही हूँ, दूसरा तो है ही नहीं"। इसका सूक्ष्म अर्थ (भाव) यही जान पड़ता है कि चिद्रूप एक है और माया रूप असंख्य यद्यपि यह निर्गुणा यानी गुणातीता[1] (गुण से परे)

---

[1]गुणद्वितिया विद्या अर्थात् तारा से आरम्भ होता है। जैसा कि कामधेनुतन्त्र कहता है—काली कैवल्यदात्री है। गौण मोक्षदात्री और और महाविद्यायें यथा तारा षोडशी इत्यादि हैं। तारा सत्वगुणात्मिका और तत्वविद्यादायिनी है। षोडशी (महात्रिपुरसुन्दरी), भुवनेश्वरी और छिन्नमस्ता रजःप्रधाना एवं सत्वगुणात्मिका हैं। इस हेतु गौणमुक्तिदात्री हैं। धूमावती, भैरवी, वगला, मातंगी और कमला तमःप्रधाना हैं। इनकी उपासना मुख्यतः षट्कर्मों में होती है।

निर्द्वन्दा है अर्थात् इसके सिवा और दूसरा कुछ है ही नहीं, जिससे यही बोध होता है कि यही ब्रह्मरूपा सब कुछ है। "यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके तस्य सर्वस्य या शक्तिः इत्यादि" अर्थात् 'जो कुछ भी सत् अथवा असत् है, उसकी शक्ति तू ही है, हे अखिल-आत्मिके अर्थात् समस्त जगत् की आत्मा (शक्ति) !' इसी को अथर्वशीर्ष (वेद) इन वाक्यों में अच्छी तरह समझाता है—
"अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मतः प्रकृति[1] पुरुषात्मकं जगत् शून्यञ्चाशून्यञ्च। अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञाना विज्ञाने। अहं ब्रह्मा ब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि[2]।

---

[1]सांख्य दर्शन में प्रकृति की ऐसी व्याख्या है—
सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

[2]"पञ्चशून्ये स्थिता तारा सर्वान्ते कालिका स्थिता" अर्थात् पाँचों शून्य यानी पांचों तत्व तक तारा अर्थात् सत्वतत्वात्मिका शक्ति की स्थिति है। इसके परे काली है॥

अहमखिलं जगत्। वेदोहमवेदोहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजहम् इत्यादि"। अर्थात् "मैं ब्रह्मरूपी हूँ। मुझसे प्रकृति और पुरुषात्मक सद्रूप और असद् रूप जगत् उत्पन्न है। मैं दोनों आनन्द और अनानन्दरूपा हूँ। मैं विज्ञान भी हूँ और अविज्ञान भी। मैं जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी हूँ। मैं पाँचों भूत (पञ्चतत्व आकाश आदि) की हूँ और इससे भी परे हूँ। मैं सारा संसार हूँ। वेद और अवेद दोनों मैं ही हूँ। विद्या और अविद्या हूँ। जन्म लेती हूँ और जन्म नहीं भी लेती हूँ।" विद्या और अविद्या का निरूपण वेद (उपनिषत्) में इस आशय का है— "द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे अनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गुढ़े। क्षरन्त्वविद्या अमृतं तु विद्या-

---

अर्थात् जब महाप्रलय में आकाश का भी लय होता है (इसीलिये इसको महाप्रलय कहते हैं) यही काली आद्या शक्ति चित् शक्ति के रूप में रहती है।

विद्या विद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।" अर्थात् अक्षर (नित्य) और व्यापक ब्रह्म में विद्या और अविद्या ये दोनों छिपे हुए पड़े हैं। अविद्या क्षर (नाशवान्) है, और विद्या अमृत (नित्य और मधुर) है! जो इस विद्या और अविद्या को अपने अधीन रखे हैं, वे कोई दूसरे ही हैं। इसी विद्या से मुक्ति होती है और इसी अविद्या से बन्धन है। जैसा कि लिखा है—"स विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी। संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी-सप्तसती।" अर्थात् "यही विद्या परमा और सनातनी मुक्ति का हेतु है अर्थात् मुक्ति देनेवाली है और यही सब (जगत्) की स्वामिनी अविद्या रूप से बन्धन है।"

अब यह प्रश्न है कि हम उस चित्परात्परा शक्ति को किस रूप, गुण से समझना और भजना चाहते हैं। श्रेयसी वस्तु तो यही होना उचित है कि उसके असली रूप को समझें। समझने के लिये

उसी रूप के सांकेतिक अर्थ (तत्व) का अनुसन्धान करें। निराकार तत्व का ज्ञान एक ही छलाँग यानी विहंगमगति से होना असम्भवप्राय है। इसीलिये जैसा पूर्व कह आये हैं, नाम-रूप इत्यादि की कल्पना साधक के सुभीते के लिए की गई है। किन्तु नाम-रूप-भेद से गुणभेद है। यह विशेषता हमारे हिंदूधर्म में ही है। और धर्मों में केवल निराकार ईश्वर ही है। इससे साधकों की समस्या (ईश्वरोपासना) हल नहीं होती किन्तु और भी गूढ़ होती है। साकार कल्पित है और कल्पना सांकेतिक है (यानि संकेत अंगेरेजी में जिसे "साइम्बोल" कहते हैं)। अगर संकेत में गड़बड़ी होती है, जैसा कि आजकल सद्गुरुओं के अभाव से साधारणतः होती देखी जाती है, और अर्थ का अनर्थ ही किया जाता है तो परिणाम खराब ही होता है।

[1]काली शब्द की परिभाषा पूर्व कह चुके हैं। काली के अनन्त असंख्य भेद हैं। पर मुख्य भेद आठ ही हैं।जैसे—१ चिन्तामणि काली २ स्पर्शमणि काली ३ सन्ततिप्रदाकाली ४ सिद्धिकाली ५ दक्षिणाकाली ६ कामकलाकाली ७ हंसकाली और आठवीं गुह्यकाली। इन्हीं आठ कालियों के मन्त्र कालीक्रमदीक्षा में दिए जाते हैं। जैसा कि अथर्ववेद का सौभाग्यकाण्ड कालीमेधा दीक्षितोपनिषत् जो अप्रकाशित है, कहता है। इन आठों भेदों में मुख्य[2] दक्षिणकाली है, जो आम तौर से साधारण जनता द्वारा

---

[1] इसी भगवती को वेद में (तैत्तरीय आरण्यक) भद्रकाली रूप में स्तवन किया गया है। भद्रकाली का अर्थ है 'भद्रं मङ्गलं अर्थात् शुद्धात्मविज्ञानं कलयति जनयति।'

[2] इसी कादिक्रम का द्वाविंशाक्षर मन्त्र मन्त्रराज या विद्या राज्ञी है!

उपासिता है। किन्तु इसका भी कादि क्रम यानी 'क्रीं' मन्त्र[१] ही मुख्य है। इसके हादि अर्थात् ह्रीं मन्त्र (मंत्र और वीज में भेद है। वीज मंत्र हैं, परन्तु सभी मंत्र वीज नहीं हैं) के भी उपासक बहुत हैं परन्तु कादि क्रम ही भगवती काली का मुख्य है अतएव इसी के पूर्व-उल्लिखित ध्यान "करालवदनां घोरां इत्यादि" के सांकेतिक अर्थ पर यथोपलब्ध प्रकाश डालने की चेष्टा करता हूँ। यह महादुःसाहस

---

[१] 'क्रीं' वीज की व्याख्या तन्त्रकल्पद्रुम में इस प्रकार है—

"ककारोज्ज्वलरूपत्वात केवलं ज्ञानचित्कला। ज्वलनार्णं समायोगात् सर्वतेजोमयी शुभा ॥ दीर्घें कारेण देवेशि साधकाभीष्ट दायिनी। विन्दुना निष्कलत्वाच्च कैवल्यमोक्षदायिनी ॥

इसी की व्याख्या तोडल तन्त्र में है "ककारं धर्मदं देवि ईकारं चार्थदायकम्। रकारं कामदं कान्ते मकारं मोक्षदायकम् ॥ एकत्रोच्चारणाद्देवि निर्वाणमोक्षदायिनी ॥"

है। क्योंकि इन्द्रादि देवगण भी जिसके बारे में कहते हैं कि "किं वर्णयाम तव रूपमचिंत्यमेतत्...।" अर्थात् तेरा रूप, जो अचिन्त्य है अर्थात् वचन और मन के परे है उसका क्या वर्णन करूँ"। इस अवस्था में मुझ सा अज्ञानी क्या करे ! तथापि 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।"

अस्तु, भगवती का पूरा नाम है दक्षिणकालिका। आद्या अर्थात् आदि महाविद्या यही काली है। और और जो काली हैं, यथा भद्रकाली, श्मशानकाली, सिद्धिकाली, कामकलाकाली, हंसकाली, गुह्यकाली इत्यादि उसी सच्चिदानन्दस्वरूपा दक्षिणकाली के भेद हैं। लोग इनको (द० काली) महाकाली भी कहते हैं, यह भी भ्रम है। पौराणिक महाकाली सप्तशती में की (मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत) दूसरी है। यह दुर्गा की त्रिमूर्तियों में से एक है। इनका ध्यान भी सर्वथा पृथक् है और ऐसा है—"खड्गं चक्रगदेषु चापपरिघान् शूलं भुशुण्डीं शिरः शंखं संदधतीं

करैस्त्रिनयनां सर्वांगभूषावृताम् । नीलाश्मद्युतिमास्य पाददशकां सेवे महाकालिकां यामस्तौत स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम् ॥" यह[१] तमोगुणस्वामिनी है। और तन्त्र में की महाकाली भी पृथक् है। इनका मेरुतन्त्र में इस प्रकार का ध्यान लिखा है— "पञ्चवक्त्रां महारौद्रीं प्रतिवक्त्रे त्रिलोचनम्। शक्तिशूलधनुर्बाणखेटखड्ग वराभयान् । दक्षादक्षभुजैर्देवीं बिभ्राणां भोगिभूषणाम्।" यह भी तमोगुणात्मिका हैं और इनकी उपासना षट्कर्म विशेषतः मारण में प्रसिद्ध है।

अस्तु, दक्षिणा से क्या बोध होता है ? दक्षिणा इस हेतु कही जाती है, जैसा कि निर्वाणतन्त्र कहता है—"दक्षिणस्यां दिशि स्थाने संस्थितश्च रवेः सुतः

---

[१]इनका ध्यान-तत्व श्री दुर्गा के ध्यान-तत्व, अगर "माँ" की इच्छा हुई, लिखते समय लिखने का प्रयत्न करूंगा।

(यम:) काली नाम्ना पलायेत भीतियुक्त: समन्तत: । अत: सा दक्षिणा काली त्रिषु लोकेषु गीयते ॥" अर्थात् दक्षिण दिशा का रहने वाला यम काली नाम सुन कर भागता है, काली के नाम लेने वालों यानी काली के उपासकों को यम नरक नहीं ले जा सकता है। इस हेतु भगवती का न म दक्षिण ालो है। इसका सांकेतिक अर्थ क.माख्या तन्त्र में इस प्रकार लिखा है— "यथा कर्मसमाप्तौ च दक्षिणा फलसिद्धिदा । तथा मुक्तिरसौ देवी सर्वेषां फलदायिनी ।' पुन: यही तन्त्र इसका दूसरे प्रकार का भाव बतलाता है—"पुरुषो दक्षिण: प्रोक्तो वामा शक्तिर्निगद्यते । वामा सा दक्षिणं जीत्वा महामोक्ष-प्रदायिनी तत: सा दक्षिणा नाम्ना त्रिषु लोकेषु गीयते ।" विमलानन्ददायिनी व्याख्या में इस प्रकार है— "दक्षिणामूर्ति भैरवाराधिता तस्मात् दक्षिणा प्रकीर्तिता ।" अर्थात् "दक्षिणा मूर्ति भैरव ने इनकी सर्वप्रथम आराधना की इस हेतु दक्षिणा काली नाम विख्यात

हुआ।" किन्तु शक्तिसंगम जो महातन्त्रराज कहलाता है, उसमें इसकी इस प्रकार व्याख्या है—"वरदानेषु चतुरा तेनेयं दक्षिणा स्मृता।" यानी "वरदान देने में भगवती बड़ी चतुरा है, इस हेतु दक्षिणा कहलाती है।" इन व्याख्याओं में कौन सी सबसे अधिक युक्तिसंगत है, सो विवेचक पर निर्भर करता है।

२—ध्यान-तत्व

श्मशानवासिनी—भगवती रहती है श्मशान[1] में। श्मशान का शब्दार्थ शब्दकल्पद्रुम में इस प्रकार लिखा है—"श शब्देन शव प्रोक्तः शानम् शयन-

---

[1]यह श्मशान ऐसा वैसा नहीं है। यहाँ ब्रह्मादि देवताओं का शवदाह होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि ब्रह्मादिक नित्य मरते हैं। जैसा कि श्रीत्रिपुर-सुन्दरीस्तव में है—"ईषत् प्रभाव कलुषाः कति नाम सन्ति ब्रह्मादयः प्रतिदिनं प्रलयाभिभूताः।" इत्यादि। इस श्मशान का विशेष विवरण जानने के लिये शक्तिसंगम कालीखन्ड द्वितीय पटल देखिये।

मुच्यते । निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः । महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते शेरतेऽत्र शवो भूत्वा श्मशानस्तु ततो भवेत् ।" इसका भावार्थ है कि शव यानी मुर्दा जहाँ सोवे, उसी को श्मशान कहते हैं। अब यह देखना है कि ये पाँचो महाभूत यानी पाँचो तत्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, जो स्वयं "खं ब्रह्म" हैं, कहाँ लय होते हैं। ये लय होते हैं चिद्-ब्रह्म में, जो कूटस्थ, निष्कल, अनन्त, अक्षर और निर्गुण है। इससे यही बोध होता है कि आद्या काली परमेश्वरी ही निष्कल ब्रह्म का नामान्तर है। इसका एक दूसरा भी भावार्थ है कि सांसारिक काम-रागादि जहाँ पर भस्म यानी नष्ट हों, वही श्मशान है। आद्याशक्ति श्मशानवासिनी है। साधक अगर अपने हृदय में उसको रखना चाहे अर्थात् यह चाहे कि भगवती उसके हृदय में वास करे, तो अपना हृदय श्मशानवत् बना ले। नहीं तो भगवती जो केवल श्मशानवासिनी है, कैसे उसके हृदय में वास

करेगी ? हृदय को श्मशानवत् बनाना हो तो काम-रागादि को भस्म कर दो। काम-रागादि अगर हृदय में रहेगा तो भगवती का ध्यान भी सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता है। जैसा कि कबीर साहेब ने कहा है—"जहाँ राम (ब्रह्म) तहाँ काम नहीं जहाँ काम नहिं राम। कह कबीर कैसे मिले रवि रजनी एक ठाम।" और भी किसी ने कहा है—"जब "मैं" था तब हरी नहिं, जब हरि हैं "मैं" (अहंकार) नाहिं। प्रेमगली अति सांकरी दूजो नाहिं समाहि।"

अब श्मशान में है क्या ? है घोर शिवा (गीदड़) और कंकाल, अस्थि (हड्डी) और शव-मुन्ड-समूह। जैसा कि कालीकर्पूरस्तव में लिखा है—"शिवाभिर्घोराभिः शवनिवहमुन्डास्थिनिकरैः। परं संकीर्णायां प्रकटितचितायां हरवधुं...।" इन गीदड़, कंकाल, शव-मुन्ड से क्या बोध होता है ? अतीव दुर्द्धष शिव-प्रकृति अर्थात् अपञ्चीकृत महाभूत हैं घोर शिवा और उजले हड्डी के ढेर तथा कंकाल मुन्ड से सत्वगुण का

बोध होता है। जैसा कि विमलानन्दस्वरूपव्याख्या में है—"शवनिवहमुंडास्थिनिकरैः—अत्र अस्थिकंकालानां श्वेतवर्णत्वेन सत्त्वगुणं सूचितं अतएव महाप्रलये मृतानां जीवानां सत्त्वादिगुणसमूहैः ।" इस प्रकार का श्मशान है। इसमें प्रकटित यानी जलती हुई चिता है। इसी में रहती है गुणातीता महादेवी, जिसके असली रूप के जानने वाले मुक्त होते हैं। कहा है श्रीकृष्णभगवान् ने—"गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।" अस्तु अब प्रकटित चिता से क्या बोध होता है ? यह चिता प्रज्वलित है, बुझी नहीं। बुझ जाने से तो प्रकाश का अभाव होता। इसका भावार्थ स्वप्रकाश रूपी चित् शक्ति है, जो ब्रह्म का लक्षण है। श्रीचण्डीस्तव में लिखा है—'चितिरूपेण या कृत्स्नं एतद्व्याप्य स्थिता जगत्।"

भगवती का आसन है सदाशिव, जो इस अवस्था में महाप्रेत कहलाता है। इससे क्या बोध होता है ? इसका भावार्थ यह है कि सदाशिवब्रह्म

की परमावस्था और चितूशक्ति यानी चिद्ब्रह्म की स्वरूपावस्था एक है निगु ण और निर्विकार। इसका एक दूसरा भी मतलब निकलता है कि परमशिव की शक्ति उससे निकल कर यानी हटकर अर्थात् निगु ण ब्रह्म सगुण होकर सृष्टि करने चली है। यह पालन और संहार अपनी शक्ति काल यानी महाकाल द्वारा करके वापस आ जाती है। जब शिव से शक्ति पृथक् होती है, तो शिव शव यानी मुर्दा हो जाता है। शिव शब्द का इकार शक्तिसूचक है, जिस (इकार) के हटा लेने से शिव शब्द शव शब्द बन जाता है। साधारण जीव जो शिव का ही अंश है, प्राणशक्ति हट जाने से मर जाता है। यही आनन्दलहरी में कहा गया है—"शिव शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् । न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।" इसके और भी मतलब निकलते हैं, जो गौण होने से विस्तार-भय से नहीं उद्धृत किये गये।

भगवती का वर्ण (रंग) काला है। क्योंकि कालावर्ण सातों वर्णों से, जो श्वेतवर्ण में सन्निहित हैं, परे है। वर्ण यहाँ गुणद्योतक है। अतएव वर्ण-हीन यानी वर्ण के परे से गुणहीन का होना बोध होता है। गुणहीन यानी गुणातीत। वर्ण विज्ञान के अनुसार सात हैं। इस हेतु शास्त्रों में सूर्य्य सप्तरश्मि कहा गया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी जिनमें "न्यूटन" मुख्य गिना जाता है, यही सिद्धान्त मानते हैं। इन सातों वर्णों में मिला लेने की शक्ति (ऐब्जार्बिङ्ग पावर) पूर्णतया नहीं है। यह शक्ति केवल काले वर्ण में ही है। सातों वर्ण विकृत या रूपान्तर हो सकते हैं, किन्तु कालावर्ण एक सा रहता है। इस हेतु यह नित्यताद्योतक भी है। पूर्णकला या परब्रह्म ही नित्य है। इसीलिये कृष्णभगवान् का (कृष्णस्तु भगवान् स्वयं), जिनकी गिनती अव-तारों में है यानी अपूर्ण कलावानों में नहीं है, वर्ण काला कल्पित है। यहाँ पर यह उल्लेख करना युक्ति-

संगत है कि श्याम और नीलवर्णों में नाम मात्र का भेद है। तारा और राम नीलवर्ण के हैं, जैसे काली और कृष्ण कालेवर्ण के हैं। आकाश का वर्ण नील है। आकाश को ब्रह्म कहते हैं—खं ब्रह्म। किन्तु वह सगुण ब्रह्म है। बस भेद यही है। शब्दकल्पद्रुम में कालेवर्ण को व्यापकताद्योतक लिखा है। यथा—"मेघांगीमितवर्णेनास्याः कृष्णवर्णत्वं सूचितं परं अरूपाया निराकृतेः कालशक्तेरेवं ध्यानालम्बनतया ज्ञापकत्वमिति यावत्।" महानिर्वाणतंत्र में इसका ऐसा भावार्थ लिखा है—"श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते। प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे॥ अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः। हिताया: प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूपितः॥" अर्थात् उजले पीले आदि रंग जैसे कालेवर्ण में समा जाते हैं, वैसे ही सब जीव काली में लय हो जाते हैं। अतएव कालशक्ति वाली (काल एव शक्तिर्यस्याः सा) निर्गुणा निराकारा काली भगवती का वर्ण कृष्ण निरू-

पित किया गया है। कृष्णा शब्द काली पर्य्यायवाचक है। यह इस प्रकार बनता है—"कृष्ण + टाप्"। अब कृष्ण इस प्रकार बनता है—"कृषेर्वर्णे उणा ३।४ नक् णत्वञ्च।" इसका अर्थ है—"कर्षति आत्मसात् करोति आनन्दत्वेन परिणामयति।" अर्थात् अपने में मिलाकर आनन्दमय बना देनेवाली। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार भी है—"कर्षति सर्वान् स्वकुक्षौ प्रलयकाले" अर्थात् प्रलयकाल में अपने में समेट लेनेवाली। श्रीधर स्वामी ने इस की इस प्रकार व्युत्पत्ति की है—"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यात् परंब्रह्म कृष्णइत्यभिधीयते।" अर्थात् कृषि शब्द भू यानी संसारवाचक है और ण निर्वृत्तिवाचक है। दोनों के मिलने से कृष्ण बना है, जो इससे परंब्रह्म सिद्ध होता है। कृष्ण और कृष्णा या काली एक ही हैं, जैसे तारा और राम एक ही हैं। शास्त्र भी कहता है—"काली तु कृष्णरूपा स्यात्। रामरूपा तु तारिणी॥"

कालीविलासतन्त्र भी यही कहता है—"यः शिवः सैव दुर्गा स्यात् या दुर्गा शिव एव सः । यः शिवः कृष्ण एव स्यात् या काली कृष्ण एव सः ॥" श्रुति भी यही कहती है—"कर्षणात् कृष्णः रमणात् रामः व्यापनात् विष्णुः ।" कृष्ण और असित एक ही पर्य्यायवाचक हैं। इस हेतु काली को असिता भी कहते हैं। असिता शब्द इस प्रकार बनता है—अ + सिता । अब सित शब्द षिङ् बन्धने क्तः इस प्रकार है। इसका अर्थ है बद्ध। जैसा अमरकोष में है—"बद्धार्ज्जुनौ सितौ ।" इस हेतु असिता का अर्थ है अबद्धा या निर्मुक्ता। इस कृष्णवर्ण का (ध्वान्तधाराधर रुचिरुचिरे) मतलब ऐसा भी है कि "नीलमेघकान्तिरिव मनोज्ञे अर्थात् नवीन जलधरो यथा अमृतवारिवर्षणेन आतपतप्त पृथ्वीं शीतलां करोति तद्वत् त्वमपि कृपामृतवर्षणेन त्रितापतप्त साधकाय अमृतत्वं ददासि ।" अर्थात् "जिस प्रकार काला यानी सघन मेघ तपी हुई पृथ्वी को वर्षा से शीतल करता

है, उसी प्रकार तुम भी कृपारूपी अमृत बरसा कर त्रिताप[1] पीड़ित साधकों का त्रिताप हरण कर अमर बनाती हो। इसका सूक्ष्म भाव विमलानन्द-दायिनीव्याख्या में इस प्रकार है—ध्वान्तधाराधर-रुचि—'शुद्धसत्त्वगुणात्मक घनीभूत तेजो-मयत्वात् चिदाकाशत्वाच्च नीलवर्णः।" अर्थात् "अन्धकार-पर्वत के समान शोभा से युक्त, केवल सत्वगुण स्वरूप जो प्रगाढ़ तेज है उससे व्याप्त रहने के कारण तथा चैतन्यमय आकाश स्वरूप रहने के कारण काली का वर्णनील है।" योगवाशिष्ठ में भी असित अर्थात् काला की यह व्याख्या है—'शिवयोर्व्योम-रूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः।" अर्थात् "शिव और शिवा (काल तथा काली) दोनों का, आकाश रूप यानी ब्रह्म होने से, वर्ण असित यानी काला बोध होता

[1] त्रिताप ये हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।

है।" त्रिपुरासारसमुच्चय भी ऐसा ही कहता है—
"मोक्षे साक्षादपेताम्बुदगगननिभां भावयेद् भक्तिगम्यां।"
अर्थात् मोक्ष[२] के हेतु ठीक मेघ-हीन आकाश के सदृश, यानी नील, भक्तिमात्र से जानने योग्य भगवती का ध्यान करना चाहिये।

शशिशेखरा—अर्थात् भगवती के ललाट के ऊपर चन्द्रमा है। इससे बोध होता है कि भगवती परमात्मरूपिणी चिदानन्दमयी है। जैसा कि लिखा है—
"शशिशेखरेत्युक्त्या शशीचन्द्रः जीवसमष्टिः सर्वजीवबीजस्वरूपो हिरण्यगर्भो ब्रह्मा एव चन्द्रनाम्ना ख्यायते अतएव अस्या देव्या ललाटे ऊर्ध्व देशे इति निर्देशात् समस्त

---

[२]भगवती मोक्ष (मुक्ति) देनेवाली है। मुक्ति पाँच प्रकार की है, जैसा श्रीशिवगीता कहती है—"सालोक्यमपि सारूप्यं साष्ट्र्यं सायुज्यमेव च। कैवल्यञ्चेति तां विद्धि मुक्तिं राघव पञ्चधा।" यह कैवल्य यानी मुख्य मुक्ति देती है और महाविद्या गौण मुक्ति देनेवाली हैं।

जड़शक्तिभ्यः पृथक् कृत्वा जीवशक्तेरुत्कर्षं बोधयति यथा–भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्॥ अतोऽस्या जीवशक्त्या धारकतया सैव परमात्मरूपिणी चिदानन्दमयीति प्रबोध्यते॥" महानिर्वाणतन्त्र संक्षेप में कहता है—"नित्यायाः कालरूपाया अव्ययायाः शिवात्मनः। अमृतत्वाल्ललाटेऽस्याः शशिचिह्नं निरूपितम्॥" अर्थात् "नित्या, कालरूपा यानी कालशक्ति वाली, अविनाशी, मंगलमयी भगवती के ललाट पर अमृतत्व-बोधक चन्द्रमा निरूपित है।" विमलानन्ददायिनी व्याख्या में इसका भावार्थ निर्वाणमोक्षदायिनी है।

मुक्तकेशी—अर्थात् केशविन्यासादि-विलास-विकार-रहिता। यह निर्विकार का द्योतक है। इसका दूसरे प्रकार का भी भाव बोध होता है। केश शब्द इस प्रकार बनता है—क + अ + ईश अर्थात् क से ब्रह्मा, अ से विष्णु और ईश से रुद्र यानी सत्व, रजो

और तमोगुण के अधिष्ठातृ देवता। इन तीनों गुणों से मुक्त रहनेवाली यानी गुणातीता। निरुत्तर-तन्त्र में ऐसा ही लिखा है कि भगवती काली ! अनिरुद्ध सरस्वती है, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव की भी मोक्षदात्री है। किन्तु इन दोनों निष्कर्षों में पहिला ही अर्थात् निर्विकारा, जो ब्रह्म का एक लक्षण है, युक्तिसंगत बोध होता है।[3]

त्रिनेत्रा—सूर्य्य, चन्द्रमा और अग्नि इन्हीं तीनों के जगदम्बा के तीन नेत्र हैं। इसके बारे में महानिर्वाणतन्त्र इस प्रकार कहता है "शशिसूर्याग्निभिर्नेत्रैरखिलं कालिका जगत् । सम्पश्यति यतस्तस्मात् कल्पितं नयनत्रयम् ॥" भावार्थ यह है कि जगदम्बा समस्त जगत् को सम्यक् प्रकार से देखती है। इससे भगवती का व्यापकत्व बोध होता है। विमलानन्ददायिनीस्वरूपव्याख्या में

---

[3] देखिये आर्थर एवेलन कृत तान्त्रिक ग्रंथमाला।

संक्षिप्त रूप से इसका भावार्थ त्रिकालज्ञात्री यानी भूत, वर्तमान, और भविष्य देखने वाली है। शब्द-कल्पद्रुम में इसकी इस प्रकार व्याख्या है—
त्रिनयनमित्युक्त्या सर्वज्योतिपदार्थानां प्रधानभूता चन्द्र-सूर्याग्नयः प्रकाशशक्तेराधिक्यात् तैरेवास्या देव्या नयन-त्रितयत्वेन प्रकल्पितं वस्तुतः सर्वप्रकाशकानां सूर्यादीनां सैवान्तर्यामि तयाधिष्ठात्री देवतारूपिणी बोध्यम्।"
इसका भावार्थ यह है कि भगवती अन्तर्यामिनी है। पूर्णानन्द स्वामी ने, जो एक सिद्ध पुरुष हो गये हैं, अपने षट्चक्रनिरूपण में इन तीनों सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूपी नेत्रों को इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का द्योतक बतलाया है। यह ब्रह्मद्योतक है, कारण ब्रह्म की ही ये तीन शक्तियाँ हैं, जिससे सृष्टि होती है। अस्तु, सब ही निष्कर्षों से ब्रह्म का लक्षण ही सिद्ध होता है। महादेव के भी तीन आँखें हैं। गणेश के भी तीन हैं। ऐसे सभों के जिनके ब्रह्म रूप की कल्पना कर ध्यान लिखा गया है, तीन

आँखों की कल्पना की गयी है।

महाघोरबालावतंसा—अर्थात् बालक शव के कान का अलंकार। इससे यह भाव निकलता है कि कान का आभूषण जो बहुत प्रिय होता है वह बालक यानी निर्विकार साधक का है। अर्थात् निष्काम (बालकों का यह स्वाभाविक गुण है) साधक ही भगवती के कृपापात्र हैं।

सृक्कद्वयगलद्रक्तधारा—अर्थात् दोनों ओष्ठ-प्रान्त से रक्त की धारा बहती है। इसका मतलब है कि रक्त से, जिससे रजोगुण का बोध होता है, रहिता है यानी शुद्ध सत्वात्मिका विरजा है।

प्रकटितरदना—यानी दाँत बाहर निकले हैं, जिससे निकली जिह्वा को दबाये हुए भगवती है। इसका यह मतलब है कि उजले दाँतों से, जो स्वप्रकाशसत्व-गुणद्योतक हैं, लाल जिह्वा को, जो रजोगुण और तमोगुणद्योतक है, दबाये है। जैसा कि स्वरूपव्याख्या

में है—स्वप्रकाशसत्वगुणसूचकदशनपंक्त्या रजोगुण-सूचकरक्तवर्णां लोलरसनां दशति। सत्वगुणेन रजस्तमश्च नाशयति इति भावः।"

स्मितमुखी—यानी मुस्कुराती हुई। इससे बोध होता है कि भगवती नित्यानन्द है। जो ब्रह्म का एक लक्षण है।

पीनोन्नतपयोधरा—यानी बड़े स्तन वाली। स्तन आहार का भान्डार है। पालनशक्तिद्योतक है। भगवती तीनों लोकों को आहार देकर पालन करती है। तथा अपने स्तन के दूध रूपी अमृत यानी ज्ञान को निष्काम साधकों को दे अमरत्व प्रदान करती है, जिससे यह बोध होता है कि भगवती मोक्षदात्री है। जैसा कि भगवती ने स्वयं यह कह कर बालक कृष्ण को दूध पिलाया है—"शृणु पुत्र महाभाग कृष्ण कमल-लोचन। न गव्यस्तनजं पुत्र अमृत नित्यनूतनम्॥ सहस्र-दलपद्माच्च उद्धृत्य कृष्ण सुन्दर। पुत्र ब्रह्माण्डगुप्तं वै

अमृतामृतमव्ययम् ॥ याऽत्रा सरस्वती रेवा यमुना पुष्करा तथा । गोलोकं यत्तु हे पुत्र वैकुन्ठं तदुदाहृतम् ॥ तस्मात् वै कमलात् पुत्र उत्पन्नं चामृतं द्रवम् ॥ तेनामृतेन वै पुत्र स्तनम्मे परिपूरितम् । अमृतं पिब हे पुत्र स्तनं मे परिपूरितम् ॥ अमृतं पिब हे पुत्र जरामरणवर्जितम् ॥ कालीविलासतन्त्रे चतुर्विंशतिपटले ॥" स्तन-दुग्ध की व्याख्या इससे बेहतर हो ही नहीं सकती । यह स्तनपान योग द्वारा ही हो सकता है । योगेश्वर की यह लीला हम अज्ञानी क्या समझेंगे ।

कन्ठावसक्तमुन्डालीगलद्रुधिरचर्चिता—अर्थात् गले की मुन्डमाला से टपकते हुए रुधिर से भीगी हुई । मुन्डमाला के पचास दाने पचासों मातृका अर्थात् अक्षर हैं । यह भगवती का शब्दब्रह्म होना बोध कराता है । शब्द आकाश का, जो पञ्चतत्वों में का प्रथम तत्व है, गुण है । इस शब्दगुण से रक्त अर्थात् रजोगुण टपकता है अर्थात् सृष्टि आरम्भ

हो रही है। यह भाव भगवती की सजनशक्ति जताते है। अगर कोई शंका करे कि मुन्डमाला असली मुन्डों की माला है तो यह अयुक्त (गलत) है। क्योंकि अभी पाञ्चभौतिक सृष्टि हुई नहीं, फिर राक्षस या मनुष्य आये कहाँ से, जो इनके सिर काट कर भगवती माला बनावे। यह तो पञ्चाशत् वर्ण-(स्वर और व्यञ्जन) की ही माला है। जैसा कि निरुत्तरतन्त्र में लिखा है—"पञ्चाशत् वर्ण-मुन्डाली।" कामधेनुतन्त्र तो और साफ साफ कहता है—"मम कन्ठे स्थितं वीजं पञ्चाशद्वर्णमद्भुतम् ॥"

भगवती दिगम्बरा है अर्थात् दिक् (दिशा) ही अम्बर यानी वस्त्र है, जिससे आच्छादन होता है। अर्थात् आच्छादन (ढाँप) नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवती का असली रूप आच्छादन यानी माया (क्योंकि माया द्वारा ही परमतत्व ढका है) द्वारा नहीं आच्छादित (ढँका) है। इस हेतु

भगवती का चिद्ब्रह्मरूपिणी होना सिद्ध होता है। यह हम लौकिक व्यवहार में भी परमहंसावस्था को पहुँचे महात्माओं को देखते हैं यथा भास्करानन्द स्वामी, जिनको समाधिस्थ हुए बहुत दिन नहीं हुए, दिग- म्बर यानी नग्न ही रहते थे। इसके पूर्व महात्मा तैलंग स्वामी की भी यही अवस्था थी। इसी प्रकार जो भाग्यवान् साधक उस अवस्था में पहुँच जाते हैं अर्थात् माया के परे हो जाते हैं, वे आवरण (वस्त्र) की आवश्यकता नहीं रखते। तो उस चिद्ब्रह्मरूपा निर्विकारा भगवती की नग्नावस्था की कल्पना अयुक्त नहीं।

शवानां करसंघातैः कृतकाञ्ची अर्थात् मुर्दे के हाथों की काञ्ची (घघरी) —इसका भावार्थ विमला- नन्ददायिनीव्याख्या में इस प्रकार है —"गतासूनां शवानां मृताणां बाहुप्रकरकृतकाञ्चीपरिलसन्नितम्बा सर्वे जीवाः कल्पावसाने· स्थूलदेहान् त्यक्त्वा स्वस्वकर्मभिः

सह लिंगदेहमाश्रित्य सगुणब्रह्मरूपिण्याः कारणदेहस्य अविद्यामयांशे पुनः कल्पारम्भपर्य्यन्तं आमोक्षं अवतिष्ठन्ते, अतएव अत्र मृतजीवानां प्रधानकर्मभूतैः करसमूहैः विराटरूपिण्याः महादेव्याः गर्भधारणयोग्यनिम्नोदरस्य तथा योनेश्च ऊर्ध्वस्थितकटिप्रदेशे काञ्ची कल्पिता।"
इसका भावार्थ यह है कि कल्प के अन्त में यानी खन्ड प्रलय में सब जीव स्थूल शरीर (पाञ्चभौतिक शरीर) को त्याग कर यानी मर कर अपने अपने कर्म को साथ लेकर लिंग (सूक्ष्म) शरीर धारण कर सगुण ब्रह्मरूपिणी भगवती के कारण शरीर के साथ जिसमें अविद्या का भी अंश है, कल्पारम्भ पर्य्यन्त आमोक्ष यानी जब तक जीव का मोक्ष नहीं होता है, तब तक साथ रहते हैं। अतएव यहाँ कर-प्रधान कर्म का साधन भुजाओं के रूप में विराट्रूपिणी महादेवी के जननेन्द्रिय को, जो फिर से कल्प के आरम्भ में जीवों को कर्मानुसार स्थान देकर सृष्टि करेगी, काञ्ची (घघरी) के रूप में ढके हैं। महानिर्वाण-

तन्त्र में लिखा है —"कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते। देहे विनष्टे तत् कर्म पुनर्देहे प्रलभ्यते।" देवी गीता भी कहती है —"तस्यां कर्माणि जीवानां जीवाः कालाश्च सञ्चरे। अभेदानां विलीना स्युः सुषुप्तौ व्यवहारवत्। साहं सर्वं जगत् सृष्ट्वा तदन्तः प्रविशाम्यहम्। माया कर्मादिसहिता गिरे प्राणपुरःसरा।" श्री मद्भगवद्गीता भी कहती है —"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥" तथा —"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।" तैत्तिरीय-उपनिषत् भी कहता है —"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद्ब्रह्म।" शांकरभाष्य भी यही कहता है —"जन्माद्यस्य यतः "अर्थात्" अस्य जगतः...'जन्मस्थिति-भंगं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद्ब्रह्म।" शक्तिशक्तिमतोरभेदः।

ऊर्ध्व (ऊपरवाला) वाम में कृपाण है—यह कृपाण (तलवार) किसका द्योतक है और बांयें हाथ में क्यों है जब कि अस्त्र शस्त्र साधारणतया दाहिने हाथ में रखा जाता है, विशेषतः अगर एक ही अस्त्र या शस्त्र हो? यहाँ कृपाण उस सर्वशक्तिमयी सूक्ष्मभावेन निष्क्रिय ब्रह्ममयी (क्योंकि महादेवी तो स्वयं कोई कर्म नहीं करती, यह तो अपनी काल-शक्ति के द्वारा ही तीनों क्रियाएँ अर्थात् सृष्टि, पालन और संहार करती है) को अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता नहीं है। यह वास्तविक (असली) तलवार लोहे की या और किसी वस्तु की नहीं है। इसका सूक्ष्म रूप है ज्ञान। इसी ज्ञान रूपी तलवार से भगवती निष्काम साधकों का मोह या मायापाश काटती है। जैसा कि शिवधर्मोत्तर में लिखा है—"तस्मात् ज्ञानासिना तूर्णमशेषं कर्मबन्धनम्। कामाकामकृतं छित्वा शुद्धश्चात्मनि तिष्ठति।" योगिनीतन्त्र भी कहता है—"पापपुण्यपशु' हत्वा ज्ञानखड्गेन शाम्भवि।" इससे

देवी का मोक्षदायिनी होना, जो ब्रह्म का ही एक लक्षण है, सिद्ध होता है। अब यह प्रश्न है कि असि दाहिने हाथ में न होकर बाँयें में क्यों है? बाँयें में होना यह बोध कराता है कि वाममार्ग के उपासक अर्थात् निष्काम साधकों को ही भगवती मुक्ति देती है, सकाम उपासकों को नहीं। वाममार्ग का तत्व न समझ कर पशु अर्थात् अज्ञानी उसे बुरा कहते हैं। यह भी एक महान् भ्रम है। वाम तो प्रशस्यसूचक शब्द है। जैसा निरुक्त है—"अस्नेमः, अनेनः, अनेद्यः, अनभिशस्तः, उकथ्यः, सुनीथः, पाकः, वामः, वयुनम् इति दश प्रशस्य नामानि।" वाम का एक भाव यह भी हो सकता है कि वाम शिव का पर्य्यायवाचक शब्द है। और वामा भगवती का पर्य्यायवाचक है। वाममार्ग शिवमार्ग अर्थात् शिव जी के बतलाये मार्ग को कह सकते हैं। शिव भगवान् जो बतावेंगे वह अच्छा ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। इस हेतु वाम प्रशस्य नाम है। अगर तब भी अज्ञानी इस

को बुरा कहें, तो यह बुरा हो नहीं सकता। जैसा कि कवि जौक़ ने कहा है—'तू भला है तो बुरा हो नहीं सकता ऐ जौक़। है बुरा वह ही कि जो तुझे बुरा जानता है।" अस्तु, खड्ग का सूक्ष्म भाव ज्ञान है, जिसके द्वारा जगज्जननी (करुणामयी) अपने निष्काम साधकों का मायाबन्धन काट कर मुक्ति प्रदान करती है।

छिन्नमुन्डं तथाधः—अर्थात् निचले बाँयें में कटा हुआ मुन्ड है। सिर काटकर कोई हाथ में नहीं रखता है। तब यह अयुक्त कल्पना क्यों है ? और सिर भी किसका है ? दुश्मन अर्थात् राक्षस का ! यह भी अयुक्त है। क्योंकि ब्रह्मरूपा भगवती का शत्रु और मित्र होना सर्वथा युक्तिसंगत नहीं है। ब्रह्म तो सम है। इसके न मित्र हैं न शत्रु। श्रीमद्-भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण, जो ब्रह्म हैं, कहते हैं—"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्टन्तं परमेश्वरम्।" और "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।" भावार्थ—

"मैं सब जीवों को एक सा देखता हूँ। मेरा न कोई मित्र है न शत्रु।" इससे साफ बोध होता है कि मुन्ड असली नहीं है, सांकेतिक है। अतएव इससे विमलानन्ददायिनीव्याख्या के अनुसार 'अधोहस्तेन विगतरजं तत्वज्ञानाधारं मस्तकं..." अर्थात् निचले हाथ से विगतरज यानी रजोगुणरहित तत्व के आधार ज्ञान रूपी मस्तक का ही बोध होता है।

सव्ये[1] चाभीर्वरश्च अर्थात् दाहिने हाथों में अभय और वर है—इसका तात्पर्य तो साफ है। केवल दाहिने हाथों में होने का संकेत यही है कि दक्षिणमार्ग के अर्थात् सकाम साधकों को अभय करती है यानी भय से रक्षा करती है और वर यानी अभीष्ट प्रदान करती है।

---

[1]महानिर्वाणतन्त्र में इसकी व्याख्या यह है—
"समये समये जीवरक्षणं विपदः शिवे। प्रेरणं स्वस्व-कार्य्येषु वरश्चाभयमीरितम्॥"

महाकाल[२] सुरता (विपरीतिरता)– देवी का सृष्ट्युन्मुखी अर्थात् सृष्टि करने चली है, इसी भाव का द्योतक है। विपरीत यानी उल्टा का भाव यह है कि भगवती अपनी काल रूपी शक्ति को शक्ति प्रदान कर रही है। भगवती जब निर्गुणा होती है तो महा काल भी उसी में समा जाता है। और सगुणा होते ही महाकालयुक्ता होती है। महाप्रलय में भगवती मात्र चिद्व्यापकरूप में रहती है। तब जब इच्छा होती है कि "एकोऽहं बहु स्याम" तब इसी इच्छाशक्ति से मानसिक शिव यानी महाकाल का आविर्भाव हो सृष्टि का प्रारम्भ होता है। इसी शिव को अपना भर्त्ता बनाकर सृष्टि रचती है। जैसा कि शक्तिसंगम में लिखा है—"चिद्व्यापकस्वरूपेण स्वयञ्च विभ्रती परां। एतस्मिन्नेव काले तु स्वबिम्बं पश्यति

---

[२] इसका रहस्य गूढ़तम है। गुरुमुख से जानना ही उचित है। इस हेतु अधिक प्रकाश डालने में असमर्थ हूँ।

शिवा ॥ तद् बिम्बं तु भवेन्माया तत्र मानसिकं शिवम् । सृष्टेरुत्पादनार्थं तु भर्तृरूपं प्रकल्पयेत् ॥" इसी का महाकालसंहिता में इस प्रकार उल्लेख है—"महा-निर्गुणरूपा तु वाचातीता परा कला । क्रीडया शून्यरूपन्तु भर्त्तारञ्च प्रकल्पयेत् । सृष्टेरारम्भ कार्य्यार्थं छाया (बिम्ब) दृष्टा तदा तया । इच्छाशक्तिस्तु सा जाता तया कालो विनि-र्मितः ॥" इस हेतु सृष्टि और स्थितिक्रमों में महा-काल के साथ ही ध्यान करना होता है । सृष्टिक्रम में विपरीतरता[1] और स्थितिक्रम में "महाकालेन लालिता" अर्थात् महाकाल की गोद में (वाम भाग) है । केवल संहारक्रम में ही, जो महाप्रलयसमय का द्योतक है, भगवतीमात्र का ध्यान है जैसा कि

---

[1]गन्धर्वतन्त्र में लिखा है—"यदा सा परमाशक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी अधः कृत्वा तु पुरुषं सङ्गमेच्छाऽभ-वत्तदा । तदाक्रम्य स्वयं देवी भैरवोपरिसंस्थिता । सहजानन्द सन्दोहै र्निजानन्दप्रवर्द्धिनी ॥"

साधारणतया तसवीरों में पाया जाता है। यह ध्यान-रहस्य गुरुमुख से जानना उचित है। क्योंकि यह साधक की योग्यता पर निर्भर है। इसी हेतु रहस्यों को शास्त्र में "कुलवधू" से उपमा दिया है। 'एषा शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधुरिव।"

नित्ययौवनवती—भगवती बूढ़ी नहीं है और न लड़की है। है युवती। युवती भी कैसी? नित्य युवती यानी कभी बूढ़ी क्या वयस्था भी नहीं होने वाली। अर्थात् परिवर्त्तनशीला नहीं है। यह श्री महाकालकृतसुधाधारास्तव भी कहता है—"न बाला न च त्वं वयस्था न वृद्धा।" यह ब्रह्म का ही लक्षण है, जो नित्य है और जिसके चित्स्वरूप का कभी अपचय और उपचय यानी परिवर्तन नहीं होता अर्थात् निर्विकारा है।

करालवदना—भगवती का रूप डरावना है। ठीक है क्योंकि बड़े आकार वाली वस्तु ऐसी होती ही है। जब समुद्र, आकाश आदि से अज्ञात भय

होता है, तो भगवती का विराट् रूप देख किसको न भय हो ? अर्जुन सा भक्त और वीर जब भगवान् के विराट् रूप को देख डर गया तो हम लोगों की गणना ही क्या। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है कि अर्जुन डर कर कहते हैं--"अदृष्टपूर्वं हृषितोस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।" अर्थात् (भाव) "हे भगवन् तुम्हारा यह अपूर्व रूप, जिसको मैंने नहीं देखा था, देखकर बड़ा आनन्दित हुआ परन्तु साथ ही मैं बहुत डर गया हूँ।" भगवती का करालवदना होना विराट्रूपी ब्रह्म का द्योतक है।

३—माँ की महिमा

भगवती को सब सुर, असुर, मनुष्य आदि माता कह कर पुकारते हैं। माता की व्याख्या यह है—"माति परिमितं ददाति इति माता-मा+त्रृच।" अर्थात्

निष्काम और सकाम-भेद से मोक्ष और भोग दोनों देने वाली है। कहा भी है—"यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगो यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः श्रीसुन्दरी॰ जनतत्पराणां मोक्षश्चभोगश्च करस्थ एव।" माता-पुत्र का नाता सब नातात्रों से उत्कृष्ट है। बेटे का अपराध जितना माता क्षमा करती है, उतना पिता भी नहीं। स्त्री-हृदय पुरुष-हृदय से कोमल होता ही है, यह सर्वसम्मत बात है। पुरुष का हृदय कुछ कठोर होता है। यह हम सांसारिक नित्य व्यवहार में देखते हैं इसी कारण बुद्धिमान् सच्चिदानन्द ब्रह्म से माता[1] पुत्र का नाता जोड़ते हैं। कहा

---

[1] माता की व्याख्या विख्यात साधक और लेखक आर्थर एवेलन ने इस प्रकार किस सुन्दरता से की है—वस्तुतः जीवों के जन्म और पालन का कारण माता ही है। पिता तो सहकारी मात्र है। प्रत्येक जीव माता के गर्भ से निकलने पर मातृ-दुग्ध से ही पालित होता है। और

भी है—"बाबा बाबा सब कोई कहै, मैया कहै न कोय। बाबा के दरबार में मैया करै सो होय।" बाबा (पिता) परमात्मस्वरूप निष्क्रिय ब्रह्म है। उसका ज्ञान किस तरह हो ? बस, "आत्मा त्वं गिरिजा मतिः।" बुद्धि सो भी सद्बुद्धिमात्र अवलंबन है। बुद्धि है माता। पुत्र को सर्वप्रथम माता का ही ज्ञान है। हाँ, माता पिता का, भाई का और दूसरे का परिचय कराती है तब ही हम पिता को पिता, भाई को भाई जानते हैं। नहीं तो माता के अतिरिक्त

"माँ" मन्त्र से ही दीक्षित होता है। प्रत्येक मनुष्य का आदिगुरु माता ही है ! माता ही प्रत्यक्ष देवता है। उसी से प्रथम पाठ लेता है। यही लक्षण माता पृथ्वी का है। पृथ्वी समस्त जीवों को उत्पन्न करती है और अन्न और फल को उत्पन्न करके समस्त जीवों का पालन करती है। इससे ठीक कहा जाता है कि समस्त विश्वमात्र शक्ति से ओत-प्रोत है।"

और किसी का भी अस्तित्व यानी रहना नहीं जानते। सहज प्रेम केवल माता ही से होता है। और प्रेम बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। कारण प्रेम ही ईश्वर है। कहा है—प्रेम बिना ईश्वर रीझता नहीं। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—"राम राम सब कोई कहे ठग ठाकुर औ चोर। बिना प्रेम रीझे नहीं तुलसी नन्दकिशोर।" और "हरि व्यापक सर्वत्र समाना प्रेम तें प्रकट होइ मैं जाना।" तो इस सहज प्रेमपन्थ से हीन क्यों अपने चरम उद्देश्य की प्राप्ति करें? कृत्रिम प्रेम तो काम नहीं देगा। और कृत्रिम प्रेम को पूर्णावस्था में लाना असम्भव नहीं तो आपेक्षिक बड़ा कठिन है। वेद (कठोपनिषत्) कहता है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन...।" "अर्थात् यह आत्मा (पराशक्ति) शास्त्रव्याख्या या अध्ययनादि से, अपनी प्रज्ञा के बल से या शास्त्र-पुराण सुनने से नहीं पायी (देखी) जाती है।" तब किस

प्रकार ? बस, वहीं पर लिखा है—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।" अर्थात् (भावार्थ) आत्मा के द्वारा ही आत्मा का लाभ होता है। प्रेमभाव ही (इस प्रेम को भक्ति, ज्ञान अथवा और जो कुछ कहे) वहाँ तक पहुँचने का सोपान (सीढ़ी) है। भाव के बिना भगवद् प्राप्ति नहीं होती है। कहा है—"भावाधीनमयं जगत्" अर्थात् संसार भाव के अधीन है। और "न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृन्मये। भावे हि विद्यते देवस्तस्मात् भावस्तु कारणम् ।" अर्थात् "देव (ब्रह्म) न लकड़ी में है, न] पत्थर में और न मिट्टी में यानी मिट्टी की मूर्ति में। देव है भाव में। इस कारण भाव ही देव-प्राप्ति (भगवद् प्राप्ति या मोक्ष) का एकमात्र कारण है।" स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" अर्थात् "जो मुझको जिस भाव से जानकर भजता है, उसको मैं भी उसी प्रकार समझ कर

भजता (फल देता) हूँ।" इस हेतु यह स्वयंसिद्ध है कि अगर हम उसको माता मानेंगे (समझेंगे) तो वह हमको भी पुत्र समझेगी। माता करालवदना है। किसके लिये ? पशुओं यानी अज्ञानियों के लिये, जो उससे डरते हैं। बेटे को तो माता से डरना नहीं है। हम तो उसकी करालता में भी दयार्द्रता का ही अनुभव करते हैं। क्योंकि करालता का मूल कारण उस दयामयी का दया ही है। सप्तशती-स्तव में लिखा है—"चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता दृष्टा।" यहाँ समर (युद्ध) का भाव है। जगज्जननी असुर यानी अज्ञानी के अज्ञान का नाश करती है क्योंकि उस (माता) के चित्त में दया है, दुष्टता का लेश नहीं। इसी हेतु वैसा साधक (माता को करुणामयी ही समझने वाला) प्रेम-मूर्त्ति स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में मस्ती में कहता है—"डटकर खड़ा हूँ खौफ़ से खाली जहान में। तसकीने दिल भरी है, मेरे दिल में जान में।" हमको तो बालक

बनना है। बालक होकर उसकी गोद में सुख से खेलना है। विवेक चूडामणि भी यही कहता है—"क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि। तथैव विद्वान् (मेरा निजी विचार है विद्वान् के बदले ज्ञानी कहना अच्छा है) रमते निर्ममो निरहं सुखी।" अर्थात् "भूख और देह की अस्वस्थता (बीमारी) भूल कर बालक जैसे खेलता है, वैसे ही विद्वान् यानी पण्डित (पण्डाबुद्धिर्यस्य सः) ममता और अहंकार को छोड़ राम[1] में रमण करता सुखी होता है।" यही ब्रह्मोपनिषत् भी कहता है—"यथा कुमारो निष्काम आनन्दमुपयाति।" अस्तु बालक बनने में हमको कामादि रागों को हटा निर्विकार होना है। हम तब ही "माँ" को पा सकते हैं। इसी से महात्मा हजरत ईसा ने उपदेश दिया

---

[1] "रमन्ते योगिनो यस्मिन् चासौ रामः।" "रमणात् रामः" अर्थात् योगी जिसमें रमण करे वही राम है।"

है—(भावार्थ)"जब तक तुम बदलोगे यानी दीक्षित नहीं होगे और छोटे शिशुवत् नहीं होगे, तुम स्वर्ग के भीतर नहीं जा सकोगे।" महात्मा पीटर ने इसी को इस प्रकार विशद् रूप में कहा है—(भावार्थ) "जब तुम द्वेष, छल, कपट, हिंसा, इत्यादि दुर्गुणों को त्याग कर सद्योजात शिशु की तरह शुद्ध तत्व रूप मातृस्तन का दुग्ध पिओगे तब ही तुमको ईश्वर ("माँ") की दयालुता का अनुभव होगा।" इससे परल पथ और कोई नहीं है। अपने को "माँ" की गोद में बिठाल दो। वह तुमको सम्हाल लेगी।

४—संकेत-समीक्षा

अस्तु अब यहाँ एक वस्तु और उल्लेखनीय है कि सारा शास्त्र संकेत से भरा है। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं होगा कि संसार ही संकेत से भरा है। शास्त्रों ने ठीक ही कहा है—"धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां" अर्थात् धर्म का तत्व छिपा कर रखा गया है। खास

कर तन्त्रशास्त्र का कहना ही क्या। यहाँ तो बेतार के तार की सांकेतिक व्याख्या की तरह भाव छिपे हैं। तंत्र का सांकेतिक अर्थ (भाव) सद्गुरु द्वारा न समझ कर क्रिया करने से बड़ा अनर्थ होता है. शब्दार्थ जान लेने से ही काम नहीं चलता बरन परिणाम बुरा होता है। जैसे "मातृयोनौ क्षिपेत् लिंगं भगिन्याः स्तनमर्दनम्। गुरोर्मूर्ध्नि पदं दत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।" का शब्दार्थ बड़ा ही घृणित है। इसके अनुसार काम करने से बड़ा भयंकर परिणाम होगा। तब यह शास्त्रमें लिखा क्यों है? इसका सांकेतिक अर्थ बहुत ठीक है, जो इस प्रकार है। मूलाधार स्थित त्रिकोण को मातृयोनि कहते हैं। लिंग है जीवात्मा। जीवात्मा की भगिनी यानी बहिन है कुण्डलिनी क्योंकि एक ही देह (शरीर) में दोनों का एक साथ जन्म है। जब जीवात्मा कुण्डलिनी को साथ लेकर सहस्रार (सहस्रदल पद्म) जाती है, तब गुरु से ऊपर हो जाती है क्योंकि गुरु का स्थान सहस्रार के नीचे द्वादशदलकमल में है। इस भाव से पूर्वोक्त वचन

सार्थक होता है। और भी दो एक उदाहरण देना युक्ति-संगत बोध होता है लिखा है--"मातृयोनि परित्यज्य रमते सर्वयोनिष।' इसका शब्दार्थ बड़ा ही घृणित है। किन्तु इसी का सांकेतिक अर्थ बिलकुल ठीक है। मातृयोनि यानी जपमाला के सुमेरु को छोड़ और सब योनि अर्थात् माला के गुटिकाओं के मध्य भाग में जप करना चाहिये। पुनः लिखा है कि "पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणीतले उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।" इसका शब्दार्थ तो साफ है, किन्तु शब्दार्थ ही के अनुसार कार्य्य करने से महा हानि है। परन्तु इसके सांकेतिक अर्थ के अनुसार क्रिया करने से यथार्थतः वचन के अनुसार ही फल होता है। इसका सांकेतिक अर्थ इस प्रकार है। कुण्डलिनी को जगा, उठा कर षट्चक्रभेदन कर सहस्रार में जाकर शिव-शक्तिसामरस्यानन्दामृत को पुनः पुनः पीवे और कुण्डलिनी को मूलाधार चक्र, जो पृथ्वीतत्व है, पर ले आवे। फिर उठाकर पूर्वोक्त प्रकार से सहस्रार में जा अमृतपान करे तो

पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् आत्मा की मुक्ति होती है। यह तो तन्त्र के कतिपय वचनों का उदाहरण है। अब उपनिषत् जो वेद का अंग है, उसका भी एक उदाहरण मिलता है। इसका शब्दार्थ तो बिलकुल बेढंगा होता हुआ भी सांकेतिक अर्थ अतीव सुन्दर है। जैसे—'अधर्मकारणाज्ञानमेव ज्ञानम्। प्रपञ्च ईश्वरः। अनित्यं नत्यं। अज्ञानम् ज्ञानम्। अधर्म एव धर्मः। एष मोक्षः।......धर्मविरुद्धाः कार्य्याः। धर्मविहिता न कार्य्याः।" इन वचनों के शब्दार्थ बिल्कुल बेढंगे हैं। किन्तु तत्वज्ञानी भास्करराय ने किस सुन्दरता से इनका सांकेतिक अर्थ समझ कर व्याख्या की है—"अधर्मः परब्रह्म धर्मरहित्वात् तस्य यत् कारणाज्ञानं तद् विषयक मूलाज्ञानमेव ज्ञानम्। एकारो भिन्न क्रमः।...

प्रपञ्च ईश्वरः—भेदव्यापारा नियम्य नियन्तृभावस्यापि व्यापक विरुद्धोपलब्ध्या मिथ्यात्वात् प्रपञ्च एव ईश्वरः।

अनित्यं नित्यम्—अनित्यत्वेन भासमानं घटादिकमपि नित्यमेव शक्तिरेव।

अज्ञानं ज्ञानम्—अवस्थारूपज्ञानमपि ज्ञानरूपमेव शक्तिरेव॥

अधर्म एव धर्मः—शक्तिरूपो धर्मोऽपि न पदार्थान्तरं किन्तु धर्माधार धर्मिरूप ब्रह्मैव।

एष मोक्षः—एष एव पन्था मोक्षस्य नान्यः।

धर्मविरुद्धाः कार्य्याः—इत आरभ्योपासाक प्रकारानन्नुशास्ति। तादृश विवेचकज्ञानाधारैकरसिकानां चित्तस्थैर्य्याद्यर्थम् कर्मकालेऽपि सम्विदादिसेवनं धर्मशास्त्रविरुद्धं प्रतिकर्त्तुं युक्तम्।

धर्मविहिता न कार्य्याः—धर्मशास्त्रविहिता अपि ज्योतिष्टोमादयस्तादृशधाराविरोधसम्भावनायां प्रतिकर्त्तुं युक्ताः। करणाकरणयोरभ्यनुज्ञानमिदं न त्वात्यन्तिकविधिनिषेधरूपम्। गौतमेनापि चत्वारिंशत् संस्कारान् वहिरंगानष्टावन्तरंगांश्चोक्त्वाऽऽन्तर शुद्ध युत्तरं वहिरंगानामनावश्यकतोक्ता। मनुनापि सर्वान् धर्मान् विस्तरेणोक्त्वा शास्त्रान्ते

ब्राह्माभ्यासं विधाय तत्पराणां स्वपूर्वोक्त धर्मानादर उक्तः।
तादृश स्मृतेरियमेव श्रुतिमूलम्।

इसी प्रकार महात्मा कबीर साहब की बानियों में संकेत[1] ही संकेत हैं। संकेत न रहे तो वचन और अर्थ दोनों व्यर्थ और अकल्याणकारी हों। संकेत-हीन अर्थ का अकल्याणकारी होना तो उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध हो चुका है। अब वचन का व्यर्थ होना इस प्रकार सिद्ध होता है। भगवती के गले में मुन्डमाला है। यह मुन्डमाला असली अर्थात् वास्त-

---

[1] मिथिला में भी संकेत भरे गान का प्रचलन है। उसका भी एक अपूर्ण उदाहरण, जो मुझको उपलब्ध है, यहाँ देता हूँ —"सतजन अपरुब तुअ व्यवहार।
खचर (खचर) मारि ओ जारि समलतन तारक रस आहार।
निज भगिनी संग महल महल रमि पाओल तिमिर अन्हार।
सात महल बिच कोठली बना ओल तहि मध ज्योति अपार।
सुमधिक धर बिच कतेक कठीन भेल छेमव सब अपराध।

विक होने से किसी पाञ्चभौतिक शरीरधारी (मनुष्य या राक्षस) की होनी चाहिये। परन्तु जैसा बङ्गाल के सिद्ध महात्मा रामप्रसाद ने कहा है—"संसार छिलना जखन मुन्डमाला को थाय पेलि ॥" अर्थात "संसार ही जब नहीं था, तब तुमने यह मुन्डमाला कहाँ से पायी।" इससे वचन ही व्यर्थ हुआ। परन्तु नहीं। मुन्डमाला वास्तविक नहीं है। मुन्डमाला का सांकेतिक अर्थ दूसरा है, जो पूर्व हम उल्लेख कर आये हैं। इसी प्रकार प्रत्येक विषय का रहस्य सद्गुरु से

इसको मिथिला में 'डहकन' कहते हैं। "डहकन" समधी को गाली देने वाला गीत है। किंतु इसका विलक्षण भाव है। इसका भावार्थ है कि "हे सत् पुरुष तुम्हारा अनूठा व्यवहार (क्रिया) है। तुमने खेचरी मुद्रा मारकर यानी लगा कर और समल यानी मल सहित जो शरीर है, उसको जलाकर यानी मल जलाकर और तार यानी प्रणव का रस खाकर अपनी बहिन यानी कुण्डलिनी के साथ

समझना कर्त्तव्य है नहीं तो अर्थ का अनर्थ विद्वान् भी करेंगे और करते हैं। यथा एक पी० एच० डी० साहब ने कोई दस बरस पूर्व "कल्याण" में एक लेख लिखा है, जिसमें सदाशिव (महाप्रेत जो भगवती काली के आसन हैं) को महाकाल बतलाया है। शायद इन्होंने अपनी विद्या के बल पर ही यह महान् भूल की है। भगवती के ध्यान में सदाशिव और महाकाल का क्या स्थान या रहस्य है, इसको जानने की तकलीफ नहीं की। इससे यही बोध होता

महल महल यानी षट्चक्रों में रमण कर अन्धकार ही पाया, तब तुमने सातवें महल यानी सहस्रार में ज्योति का दर्शन पाया। तुमने समधी के घर यानी इस देह में या षट् चक्रों में जो दुःख (भेदन करने में) पाया सो क्षमा करना। वैसे तो समधी को खच्चर का मांस खाने वाला, ताड़ी का पीने वाला, अपने बहिन के साथ महल महल रमण करने वाला अश्लील गाना है।

है कि डाक्टर साहब ने "यत्रोदितः किल तत्र पूर्वा" नीति पर अर्थात् मैं जो कुछ भी कहता हूँ, वही ठीक है इसी बूते पर अन्टसन्ट लिख मारा। और एक दार्शनिक महात्मा (संन्यासी) नें भी भगवती काली को तमोमयी कहा है। भला इन लोगों को क्या कहा जाय। मैं अल्पज्ञ होकर भी इन लोगों से यही करबद्ध प्रर्थना करता हूँ कि तन्त्रशास्त्र में कर्म-कान्ड, उपासना-कान्ड और ज्ञान-कान्ड तीनों सन्निहित हैं। यह एक व्यावहारिक विज्ञान है। इस शास्त्र का ज्ञाता वही हो सकता है, जो इसका साधक हो। और वही यथार्थ भाव या रहस्य की बातें कह सकता है। अतएव आप लोग तान्त्रिक क्रम से साधन कर लें, तब ही रहस्यों की व्याख्या करें। नहीं तो हम अशिक्षितों को आपके भ्रमात्मक लेखों से लाभ के बदले हानि ही होगी। श्रुति का भी अनुशासन है—"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योर्थयोऽर्थज्ञः सकलं भद्रमश्नुते नाक-

मेति ज्ञान विधूत पाप्मा ।" अर्थात् जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता, वह ठूंठ वा भारवाहक मात्र है। जो अर्थ का ज्ञान रखता है, वही कल्याण पाता है और ज्ञानी हो स्वर्ग को पाता है।

अनेक अर्द्ध पण्डित और पण्डित मानी जिनकी संख्या बहुत बड़ी है, बिना सोचे-विचारे कह बैठते हैं कि भगवती केवल तन्त्र-प्रतिपादिता है, वेदों में तो कहीं इसका पता नहीं है। इन महाशयों को मैं यही कहता हूँ, कि जरा कष्ट करें और वेद में ढूंढ़ें तब कहें कि भगवती का पता अथर्ववेद सौभाग्यकान्ड में मिलता है कि नहीं। यह भगवती को इस प्रकार कहता है—"अथ हैनां ब्रह्मरन्ध्रे ब्रह्मस्वरूपिणी इत्यादि।" तैत्तरीय आरण्यक में खोजें कि भद्रकाली का स्तवन इत्यादि इसमें है कि नहीं। वह्वृचोपनिषत् खोजें कि "देवी हि एकाग्र आसीत्। सैव जगदन्डमसृजत्..." इत्यादि है कि नहीं। जाबालोपनिषत् ढूंढ़ें। छान्दोग्योपनिषत् के "आसीदेवेदमग्र-आसीत् तत्

समभवत्" इस वाक्य को समझें। मुन्डकोपनिषत् में देखें कि "काली कराली च मनोजवा च..." का क्या अर्थ है। ये अग्नि की सप्तजिह्वायें हैं, इनमें प्रथमा काली है। अर्थात् सर्वव्यापिनी (जो ब्रह्म का एक लक्षण है) आद्या काली ही अग्निरूप आश्रय से परिछिन्ना आग्नेय शक्ति है। अगर अब भी भगवती को वेद-प्रतिपादिता न कहें, तो हम लाचार हैं। ॐजगदम्बार्पणमस्तु। ॐशन्नः कौलिकः।

बोलो हृदय से एक बार "मा" की जय और "मा" के भक्तों की जय।

५—परिशिष्ट

भगवती माता काली की महिमा वर्णनातीत है। जो स्वयं वर्णनातीत हो, उसकी महिमा भी वर्णनातीत होगी, यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है। वेद भी जिसको नहीं जानता, सिर्फ नेति नेति कह कर चुप होता है, उसके सम्बन्ध में और ऐरे-गैरे क्या कह सकते हैं। इस अवस्था में मैंने जो कुछ भी अपनी अल्पातिअल्प बुद्धि के अनुसार लिखा है, वह ऐसा ही है "जिमि पिपिलिका सागर थाहा।" तथापि तुलसीदास जी के वचनानुसार "तदपि कहे बिन रहा न कोई।" मैंने भी सही या गलत अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार विज्ञजनों के समक्ष रखा है और पुनः इसी की साधना और उपासना के विषय पर लिखने बैठा हूँ।

अस्तु, साधना कर्मकाण्ड का विषय है। यह अपने अपने क्रम के अनुसार ही की जाती है।

क्रम से यहाँ तात्पर्य्य है काश्मीरादिक क्रमों से। ये तीन[1] प्रकार के हैं—काश्मीर, गौड़ और केरल। दूसरा मत यह भी है कि क्रम चार हैं। तीन तो पूर्वोक्त और चौथा[2] विलास। सब क्रमों के अनुसार

---

[1]शक्तिसंगम में इन तीनों क्रमों के देश-विभाग इस प्रकार वर्णित हैं। "केरलश्चैव काश्मीरो गौड़मार्गस्तृतीयकः। षट्पंचाशद्देशभेदात् सर्वत्र व्याप्य तिष्ठति॥ अष्टादशसुदेशेषु गौड़मार्गः प्रकीर्त्तितः। नेपालदेशमारभ्य कलिंगान्तं महेश्वरि आर्य्यावर्त्त समारभ्य समुद्रान्तं महेश्वरि। केरलाख्यः क्रमः प्रोक्तस्तूनविंशति देशके॥ सिद्धान्तसंग्रह भी तीन ही कहता है—सम्प्रदायानथो वच्मि गौड़काश्मीरकेरलान्॥"

[2]चौथा विलासक्रम का उल्लेख केवल सम्मोहन तन्त्र में अध्याय ४ में मिलता है। और गौण रूप में शक्तिसंगम में भी चतुर्थ पटल १८४ श्लोक—कालीखण्ड में लिखा है। परन्तु इस विलासक्रम के देश-भेद का पता नहीं मिलता है।

साधन-क्रम नहीं लिखा जा सकता है। इसमें एक और बाधा है। साधन-क्रम केवल गुरु ही शिष्य की योग्यता देखकर अधिकारी बना उसे बतलाता है। कारण कि एक साधन-क्रम सब ही के हेतु एक सा युक्त नहीं है। साधन में तीन भाव अर्थात् पशु भाव, वीर भाव और दिव्य भाव हैं। इन तीनों भावों का भी वर्गीकरण है, यथा—विभाव पशु—स्वभाव पशु, स्वभाव वीर, विभाव वीर, स्वभाव-दिव्य—विभाव दिव्य। दूसरे शब्दों में पशुवीर, पशु दिव्य, वीर पशु, वीर दिव्य, दिव्य पशु और दिव्य वीर कह सकते हैं। इन सभों की साधन-प्रणाली पृथक् पृथक् है, जो केवल गुरु द्वारा ही निश्चित हो सकती है। जैसे पाठशालाओं में कक्षायें होती हैं, उसी प्रकार यहाँ भी है। जो जिस कक्षा की योग्यता रखता है, उसी के अनुसार पाठ पाता है। आजकल इसी में गड़बड़ा होने से इतनी विशृंखलता हो गयी है।

न यथार्थ गुरु[1] ही मिलते हैं, न यथार्थ शिष्य। जब भक्त[2] का भी मिलना कठिन है, जैसा कि शास्त्र में लक्षण है—"भजनात् परया भक्त्या मनोवाक्कायकर्मभिः। तरत्यखिलदुर्गाणि तस्माद् भक्त इतीरितः ॥"--कुलार्णव १७ पटल। तब शिष्य, जिसका लक्षण उसी तन्त्र में इस प्रकार लिखा है—"शरीरमर्थं प्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेद्य यः। गुरुभ्यः शिक्षते योगं शिष्य[3] इत्यभिधीयते ॥" का मिलना तो और भी कठिन है। इससे कम कठिन नहीं है सद्-

---

[1]गुरु की महिमा तन्त्रदर्शन परानन्द सूत्र में इस प्रकार है—"तातादाचार्यकः श्रेष्ठ उपाध्यायस्ततः परः। उपाध्यायाद् गुरुः श्रेष्ठो न जीवेषु परं गुरोरिति ॥" ६५ पत्र

[2]भोगस्वर्गापवर्गकाङ्क्षिणां भक्तिरेवैकः पन्था नान्यः पन्था इति श्रुतिः।—परानन्द सूत्र ५६

[3]शासितु योग्यः शिष्यः। सर्वाणि शास्त्राणि दृष्ट्वा स्वशास्त्रे यस्य मतिः स शिष्यः।—परानन्द सूत्र ४६

गुरु का मिलना। सद्गुरु के लक्षण भी कुलार्णव तन्त्र में ये दिये हैं—"गु शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु शब्दस्तन्निरोधकः ॥ अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥ गुह्यागमात्मतत्वान्वनद्धानां बोधनादपि । रुद्रादिदेवतारूपाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥" ऐसे लक्षणोपयुक्त गुरु[1] का मिलना कठिन ही नहीं, वरन् आजकल असम्भव सा हो रहा है ॥ तब ही तो लिखा है –

"गुरवो बहवः सन्ति वेदशास्त्रादिपारगाः ॥
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि परतत्वार्थपारगाः ॥
गुरवो बहवः सन्ति योगेनान्यत् पदाभुवि ।
दुर्लभोयं गुरुर्देवि लोके स्वात्मप्रकाशकः ॥
गुरवो बहवः सन्ति समन्त्रौषधिवेदिनः ।
निगमागमशास्त्रोक्तमन्त्रज्ञो दुर्लभो भुवि ॥

[1]गुरु के लक्षण विस्तारपूर्वक जानने के लिये कुलार्णव त्रयोदश पटल देखिये। संक्षिप्त में यह वचन ही पर्याप्त है—"गुरोर्यस्यैव संस्पर्शात् परानन्दोऽभिजायते। गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः ॥"

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकः।
दुर्लभोयं गुरुर्देवि शिष्यसन्तापहारकः ॥"

अस्तु जैसा ही शिष्य वैसा ही गुरु का होना स्वाभाविक है। यह समय का दोष है तथापि हम लोगों का कर्तव्य है कि इस दोष को हटाने का प्रयत्न करें। मेरी प्रार्थना विशेषतया उन विज्ञों से है, जो तत्व जानते हुये भी प्रकाश नहीं करते हैं, जिससे विद्यायें लुप्तप्राय होती जा रही हैं। अशुद्ध और विधिहीन क्रम बहुतायत से बड़े बड़े विद्वानों द्वारा लिखित पद्धतियाँ दीख पड़ती हैं। इसका एक उदाहरण यहाँ उल्लेख करना अयुक्त नहीं होगा। काली भगवती का कर्पूरबीज (क्रीं) मुख्य मन्त्र है। इस बीजमन्त्र का लोग आम तरह से ऋष्यादि में बीज, शक्ति और कीलक में महाअशुद्ध प्रयोग करते हैं। क्रीं बीजमन्त्र का ह्रीं बीजं, हुं शक्तिः और क्रीं कीलकम् ऐसा प्रयोग करते हैं। यह परम अशुद्ध है, कारण क्रीं बीजमन्त्र का ह्रीं बीज, हूं शक्ति और वही कीलक

कैसे हो सकता है ? इसको समझने में साधारण बुद्धि का काम है। बड़े बड़े विद्वान् ऐसी ही अशुद्ध प्रयोग-युक्त पद्धतियाँ छपवा कर जन-साधारण को भ्रम में डालते हैं। ऐसे अशुद्ध प्रयोग और भी हैं, जिनका उल्लेख करना लेख को विस्तार करना मात्र है। तथापि एक और उदाहरण दे प्रस्तुत विषय पर ही लिखूंगा। मातृकान्यास में प्रत्येक वर्ण 'अ' से 'क्ष' तक अनुस्वार युक्त होकर तत्तत् स्थान में न्यसित होता है। जो जो पद्धति मुझको प्राप्त है, उसमें 'अं' और 'अः' पर अनुस्वार रहित ही प्रयोग है। यह भी वचन के विरुद्ध होकर अशुद्ध प्रयोग है। इन अशुद्धियों की तरफ क्या किसी विद्वान् का ध्यान आज तक आकर्षित नहीं हुआ ? आश्चर्य है। इस विषय को विद्वान् नहीं जानते हैं, यह विश्वास नहीं होता है। इससे मन में सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि विद्वान् मण्डली जानबूझ कर ही ऐसी अशुद्ध पद्धतियाँ सम्पादन कर छपवाती है। शुद्ध और

सविधि साधन-क्रम की अत्यन्त आवश्यकता है, जिसे विज्ञ साधक ही दूर कर सकते हैं। यद्यपि शास्त्र के पोथी-पतड़े नवसिखुओं के लिये नहीं हैं, तथापि उक्त सविधि साधन-क्रम का आदर्श रहने से बहुत कुछ काम चल सकता है। यह भी सरल हिन्दी (हिन्दुस्तानी नहीं, हिन्दुस्तानी में कुरान का अनुवाद हो तो अच्छा) में ताकि संस्कृतज्ञ और असंस्कृतज्ञ दोनों समझ सकें।

अस्तु। साधन में सबसे पहिले श्रद्धा की आवश्यकता है। संशय रहने से कुछ भी नहीं होता है, जैसा कि श्रीकृष्ण भगवान् का वचन है—"संशयात्मा विनश्यति।" देवता, गुरु और मन्त्र में पूरी श्रद्धा रहे। इन तीनों में से एक में भी संशय उत्पन्न हुआ कि कार्य नष्ट हुआ। कारण ये तीनों एक[1] हैं। ऐसा शास्त्र का आदेश है—यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैका-

[1] "देवतागुरुमन्त्राणामैक्यं संभावयन् धिया। तदा सिद्धो भवेन्मंत्रः प्रकटे हानिरेव च॥" मुन्डमालातन्त्रे।

र्थवाचकाः । तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्यवाचकाः— सुन्दरी तापनीय'' महाकाल आदिनाथ ने भी कहा है—"गुरुदैवतमन्त्राणां महेशस्यापि पार्वति । अभेदेन स्मरेन्मन्त्रं स शिवो नात्र संशयः " अतएव श्रद्धालु होकर सद्गुरु [१] के शरण जाना उचित है। किन्तु गुरुवरण के पूर्व भावी गुरु की परीक्षा कर लेनी उचित है, ताकि पीछे पछताना न पड़े। बिना यथेष्ट

---

[१] गुरु दो प्रकार के हैं जैसा पिच्छिला तन्त्र कहता है—"गुरुस्तु द्विविधः प्रोक्तो दीक्षाशिक्षाप्रभेदतः ॥ आदौ दीक्षागुरुः प्रोक्तः शेषे शिक्षागुरुर्मतः ॥" गुरु का माहात्म्य वर्णनातीत है। संक्षिप्त में "गुरोरधिका देवी न गुरोरधिकः शिव॥" पुनः वामकेश्वर तन्त्र कहता है—"गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्टः रुष्टे रुष्टस्त्रिलोचनः गुरौ तुष्टे शिवा तुष्टा रुष्टेरुष्टा च सुन्दरी।" केवल यही नहीं "शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥" कुलार्णव में पुनः "मुनिभिः पन्नगैर्वापि सुरैर्वा शापितो यदि। कालमृत्युभयाद्वापि गुरू रक्षति पार्वति ॥"

कारण के गुर्वन्तर करना (दूसरा गुरु करना) महा-पाप है। गुरु के प्रति अनभिज्ञता का लेश मात्र सन्देह भी साधन-क्रम को समूल नष्ट करने में पर्याप्त है। देवता में एक विचारणीय विषय है। वह यह है कि देवता एक है रूप उसके असंख्य हैं। जिस रूप में देवता रुचिकर प्रीतिकर हो, उसी रूप में उसकी साधना करना उचित है। यथा हमको देवता का माता रूप अतीव पसन्द हो तो मातृरूप [1] जैसा

-----

[1] तन्त्रदर्शन का परानन्द सूत्र भी यही कहता है— देवताया भक्तस्य सर्वसम्बन्धः। तस्मात् पिता भूत्वा भक्तो देवतां पुत्रोऽयमिति परिचरति। पुत्रो भूत्वा देवतां पिताऽयमिति परिचरति। पुनः पुत्रो भूत्वा देवतां मातेयमिति परिचरति।...तस्माद् भक्तदेवतयोर्निर्वाच्याः सम्बन्धा यथा वा य इच्छति स तथा त परिचरति तद् भक्त्या परिचारणेन च प्रीणाति तस्मात् सर्वेभ्यो योगेभ्योऽयं गरीयान् भक्तियोगः य एवं वेदविद्वान् सोऽमृतत्वाय कल्पते।

दश महाविद्या, दुर्गा इत्यादि का है, उनमें से एक रूप चुन ले। अगर पिता के रूप में प्रीति हो तो शिव, राम, कृष्ण इत्यादि में से एक को चुन ले। वात्सल्यरस-प्रधान साधक कुमार यथा बालगोपाल या कुमारी रूप से देवता की आराधना करे, तब ही सफलता प्राप्त करता है। सच्चे अनुराग का ही वृक्ष फलता है। केवल कामना लेकर देवताराधन करना बाजारी सौदा है। यह भी देखा जाता है कि कामना लेकर आराधना करनेवाले ही कारणवशात् कामना सिद्ध न होने पर दूसरे देवता (दूसरे रूप) की आराधना करते हैं। जब उसमें भी सफलता नहीं मिली, तो तीसरे देवता की आराधना करने लगते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। गुरुत्याग,[1] मन्त्रत्याग,

---

[1] "गुरुत्यागाद् भवेन्मृत्युः मन्त्रत्यागात् दरिद्रता। गुरुमन्त्रपरित्यागाद् रौरवं नरके व्रजेत् ॥—कुलार्णव द्वादशोल्लासः।

देवतात्याग तीनों महापातक स्वरूप हैं, जिसका बड़ा ही अनिष्ट फल होता है। इस नियम में भी अपवाद है जैसे गुरु यदि अनधिकारी अथवा और किसी कारण से अयोग्य रहे तो दूसरा[1]गुरु कर सकता है। और ऐसा भी किया जाता है कि गुरु से आज्ञा लेकर किसी विशिष्ट शास्त्र या प्रक्रिया से दूसरा गुरु करके सीखा और किया जाता है। यहाँ यह उल्लेख करना युक्त बोध होता है कि वंश-परम्परा-गत गुरु-क्रम महा हानिकारक प्रथा है। हम लोगों में प्रथान्धता-व्याधि बेतरह घुसकर सर्वनाश कर रही है। यह साधारण बुद्धिगम्य है कि गुरु का पुत्र योग्य न रहने से गुरु बनाये जाने योग्य है कि नहीं। जिसको देखकर और जान कर लेशमात्र श्रद्धा

[1]"अनभिज्ञं गुरुं प्राप्य संशयच्छेदकारकम् । गुर्वन्तरन्तु गत्वा स नैतद्दोषेण लिप्यते ॥" इसके अतिरिक्त कारणों के भी उल्लेख शास्त्रों में देखे जाते हैं, जो लेख-विस्तार-भय से नहीं लिखे जा सके ।

तथा भक्ति नहीं होती है, इसी से प्रथा के अनुसार दीक्षा लेनी होती है। यह कैसी मूर्खताद्योतक है, सब समझ सकते हैं। एक उदाहरण देना अयुक्त न होगा। एक आचार्य्य गुरु महाशय अपने शिष्य का यज्ञोपवीत कराने बैठे। गुरुचरण में पुरोहित महाराज ने 'वृतोऽस्मि" कहने को कहा। गुरु महाशय विद्यादिग्गज ही थे। बस उच्चारण कर ही तो दिया, किन्तु जरा उलटा हो गया। कहने की 'वृतोऽस्मि" तो कहा "वृषोऽस्मि" (अर्थात् मैं बैल हूँ)। पुरोहित महाराज के चार पाँच बार भगीरथ प्रयत्न करने पर भी जब "वृतोऽस्मि" का उच्चारण न हुआ तो पुरोहित जी ने बिगड़कर आचार्य्य महाशय से कहा--"आप हैं वृष ही, परन्तु दया करके अभी "वृतः" ही कहिये।" दूसरा उदाहरण भी इससे कम नहीं है। उपनयन-संस्कार में जब सावित्री-दान-प्रकरण में गायत्री मन्त्र के उपदेश का समय आया तो गुरु महाशय (यह दूसरे धुरंधर

गुरु की महिमा का वर्णन है) पुरोहित जी से अपनी शङ्का का समाधान करवाते हैं। उन्हें शङ्का थी कि गायत्री मन्त्र में "ततोविलाड़जायत" है कि "ततोविराड़जायत।" ऐसे ही गुरुओं से दीक्षा लेने पर देवता में और शास्त्र इत्यादि में श्रद्धा नष्ट होती है। इस दोष का उत्तरदायी शिष्य-समाज ही है। सद्गुरु के अभाव में दक्षिणामूर्ति दीक्षा ले, यही श्रेयस्कर है। अस्तु, सद्गुरु से दीक्षा ले गुरु-सान्निध्य में गुरूपदिष्ट विधि से मन्त्रसिद्धि करे। ऐसा करने से फिर मन्त्र और गुरु-शास्त्रादि में अविश्वास करने का अवसर नहीं आ सकता। "मैंने इतना अनुष्ठान किया पर फल कुछ भी नहीं हुआ।" ऐसा कहना बिल्कुल युक्तिसंगत नहीं है, वरन निरुद्विग्न हो नये उत्साह से इष्टसिद्धि के प्रतिबन्धकों को ढूँढ़ कर जैसा कि नीति है "यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कुत्र दोषः," उन्हें हटाना उचित है। यही कर्त्तव्यपरायणता है। न कि "यत्ने कृते

यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः" वाली नीति पर अपने को निर्दोष मान निरुद्यमी हो निरस्त बैठना उचित है। कारण बिना प्रतिबन्धकों को हटाये "कारण" से "कार्य्य" होना असम्भव है। यह न्याय का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। कर्मकाण्ड में विद्या[1] की परम आवश्यकता है। विद्या की परिभाषा तीन प्रकार की है १—विद्यते ज्ञायते अनया विद् ज्ञाने २—विद् सत्तायां अखन्डसत्तायां ३—विद् लृ लाभे परमानन्दरूपत्वेन लभनीया। यहाँ अर्थात् कर्मका... सम्पर्कीय क्षेत्र में "विद्यते ज्ञा... जिससे पदार्थ का किन्तु पूर्ण होना ... धातु में भेद है।

---

[1]तन्त्रदर्शन का पा... करता है—श्रुतिस्मृतिपु... २६ सूत्र

और 'विज्डम' में भेद है, वैसे ही विद्या और ज्ञान में भेद है। विद् धातु से बने 'वेद' के अर्थ से यह साफ हो जाता है। इसी अर्थ को लक्ष्य करके तत्वावलिकार विद्या की इस प्रकार करते हैं—"विशेषेण वद विशेष सन्निकर्ष लिंगपरामर्शादि गुणजन्यो बुद्धिविशेषः ॥" न्यायभाषा में भी कहा है ---"विजातीया ज्ञानहेतुः ।" इससे सिद्ध होता है कि विद्या शब्द ज्ञानद्योतक है अर्थात् केवल शब्दार्थ ज्ञान वा पौस्तिकी तात्विक ज्ञान (बुक-नालेज) का द्योतक नहीं। उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में इसी विद्या के भिन्न भिन्न रूप हैं। कर्मकाण्ड में विद्या का आवश्यकीय मात्रा में रहना आवश्यक है, नहीं तो पदार्थ ज्ञान न होने से सविधि अनुष्ठान हो ही नहीं सकता है। अपूर्ण पदार्थ-ज्ञान "नीम हकीम जान का खतरा" का अनिष्टापत्ति का कारण होता है। अब और अधिक इस सम्बन्ध में न लिखकर केवल एक ही विषय पर प्रकाश डाल साधना के कतिपय मुख्य

अंगों पर ही लिखता हूँ। यह विषय है पुस्तक अथवा शास्त्र की पोथियाँ देख कर ही साधन-क्रिया करना यहाँ बहुत ही हानिप्रद है। कारण जब तक साधक परिपक्वावस्था न प्राप्त करे अर्थात् आचार्य्य न हो जाय तब तक पुस्तक देख कर साधन न करे। ऐसा ही शास्त्रों ने कहा है—"पुस्तके लिखिता विद्या येन सुन्दरि जप्यते। सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि॥" षट्कर्मदीपिका। साधकप्रवर राघव भट्ट भी ऐसा ही कहते हैं—"पुस्तके लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते। न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे।" पुस्तक केवल आचार्य्यों के लिये हैं, जो शास्त्र का पूर्ण ज्ञान रखते हैं। आचार्य्य के लक्षण इस तरह शास्त्रों में दिये गये हैं—"स्वयमेवाचरेच्छिष्यो नाचारे स्थापयत्यपि। आचिनोतीह शास्त्रार्थानाचार्य्यस्तेन कथ्यते॥" पुनः "आचारवशमापन्नमध्यापयति यः स्वयम्। यमादियोगसिद्धित्वादाचार्य्य इति कथ्यते॥" ऐसा तो लौकिक व्यवहारों में प्रायः सर्वत्र देखा जाता है।

शब्दार्थ मात्र जानने वाला वैद्यक की पुस्तक देखकर ही चिकित्सा नहीं करता है और कानून की किताब देखकर ही वकालत नहीं कर सकता है, जबतक कि वह वैद्यक और कानून की किताबों को अध्यापक से पढ़ निष्णात नहीं होता है। तब आध्यात्मिक विषय जैसे कठिन विषय में यह नियम कैसे युक्त हो कि बिना आचार्य्यत्व प्राप्त किये शास्त्र का अर्थ समझ जाय और ठीकठीक क्रिया का सम्पादन करे।

अस्तु उपासना का मुख्य अंग है ध्यान[१]। पूजा-पाठ, जप-तप इत्यादि सभी ध्यान के ही साधन हैं। ध्यानहीन पूजा पूजा नहीं, पाठ पाठ नहीं, जप जप

---

[१] ध्यान की परिभाषा है—"यावदिन्द्रीयसन्तापमनसा संनियम्य च। स्वान्तेनाभीष्टदेवस्य चिन्तनं ध्यानमुच्यते"—कुलार्णव। भावार्थ कि इन्द्रियों (कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों) की क्रियाओं को वश में करके अपनी इष्टदेवता के चिन्तन को ध्यान कहते हैं।

नहीं है। देवता की पूजा होती है ध्यान के निमित्त ! पाद्य दिया पाँवों का, ध्यान नहीं हुआ तो पाद्य नहीं देने के बराबर है। वैसे ही आचमन से मुख क ध्यान नहीं हुआ तो आचमनीय देना बेकार है। नमस्कार किया और आत्मसमर्पण का भाव देवता में न हुआ तो व्यर्थ ! ऐसे ही सभी पूजाङ्गों में समझने की आवश्यकता है। पाठ में अगर यह ध्यान न रहा कि किसकी स्तुति और क्या स्तुति कर रहे हैं, तो व्यर्थ है। जप तो बिना ध्यान के नहीं के बराबर है। शास्त्रों में कहा भी है—"जयस्यादौ शिवां ध्यायेत् ध्यानस्यान्ते पुनर्जपेत्। जपध्यानसमायुक्त: शीघ्रं सिध्यति साधक:॥ कौलावली तन्त्र।" भगवान् पतञ्जलि ने भी अपने योगदर्शन में कहा है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्।" यह तदर्थ है देवता का स्वरूप-ध्यान। शास्त्रों ने कहा है—"जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशय:॥" परन्तु जप का यहाँ मतलब है ध्यानयुक्त जप ही। ध्यानहीन जप

से तो कदापि सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी से शास्त्रों में ध्यान की उत्कृष्टता दी गयी है—"पूजा-कोटिसमस्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः। जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः॥" अर्थात् 'कोटि पूजा के समान स्तोत्र है, कोटि स्तोत्र के समान जप है, कोटि जप के समान ध्यान है और कोटि ध्यान के बराबर लय है।" इससे ध्यान की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। कारण लय तो ध्यान की ही चरमावस्था है। भगवान् पतञ्जलि ने तो इसको (ध्यान को) मुक्ति का एक जबरदस्त साधन मान कर ही "यथाऽभिमत ध्यानाद् वा॥ लिखा है। यह तो एक योगदर्शन का आदर्श हुआ। षट्दर्शनों का सार श्रीमद्भगवद्गीता भी इसको ज्ञान से भी बढ़कर बताती है—"श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफल-त्यागस्त्यागाच्छान्तिनिरतन्रम्॥" ध्यान पर इसीलिये पहले लिखकर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है। माँ काली के कई एक तरह के ध्यान लिख आये हैं,

कारण जिसको जैसी रुचि हो। 'रुचीणां वैचित्र्यात्' के आधार पर ही सगुण और निर्गुण प्रकार के ध्यान [1] लिखे गये हैं।

अस्तु, ध्यान का प्राथमिक अर्थात् प्रारम्भावस्था में आधार जप है। अब जप किसको कहते हैं ? जप है मन्त्र का सार्थ स्मरण न कि जोर जोर से सुग्गे की तरह अर्थज्ञानहीन रटना। जैसे ध्यानहीन जप व्यर्थप्राय होता है, वैसे ही अर्थज्ञानहीन जप व्यर्थ है। देखने में आता है कि लोग घन्टों जप करते हैं, परन्तु फल के बारे में पूछने पर कहते हैं—अरे जप तो इतना किया, परन्तु फलतो कुछ नहीं देखने में

---

[1] ध्यान का लक्षण कुलार्णव में इस प्रकार है—'यथा निमीलने काले प्रपञ्चं नैव पश्यति ॥ तथैवोन्मीलनेऽपि स्यादेतद् ध्यानस्य लक्षणम् ॥" ध्यान का फल भी उसी में लिखा है—"यथा ध्यानस्य सामर्थ्यात् कीटको भ्रमरायते। तथा ध्यानस्य सामर्थ्याद् ब्रह्मभूता भवेन्नरः॥"

आता है।" परन्तु जप-रहस्य की कसौटी पर जाँचो तो यही सिद्ध होगा कि एक अयुत जप में प्रायः एक बार भी जपयथार्थ जप नहीं हुआ। "मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः। न सिद्ध्यति वरारोहे लक्षकोटिजपादपि ॥—कुलार्णव।" अर्थात् जप ही नहीं हुआ तो लक्षकोटि इत्यादि संख्या माला पर पूर्ण करने से कहीं सिद्धि[1] होती है? जप में मनन आवश्यक है न कि माला पर अंगुली चला ली कि जप हो गया। मन्त्र का अर्थ ही है "मननात् त्रायते इति मन्त्रः।" मन्त्र की परिभाषा इस प्रकार है—"मननात् तत्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः। त्रायते सर्वभयतस्तस्मान्मन्त्र इती-

---

[1]सिद्धि के प्रतिवन्धकों में परान्न खाना परद्रव्य लेना इत्यादि है। जैसा कि शक्तिसंगम कहता है—"परान्नं परद्रव्यं च तथैव तु प्रतिग्रहम्। परस्त्रीं परनिन्दां च मनसाऽपि विवर्जयेत् ॥ जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्। मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने ॥

रितः ।—कुलार्णव"। मनन होता है देवता के रूप और गुण का। अतएव ध्यान का सूक्ष्म-भाव समझने से ही मनन होगा, अन्यथा नहीं। गुण का मनन होगा पदार्थ-ज्ञान से। मन्त्र देवता का वाङ्मय रूप है। मन्त्र का अर्थ जानने से देवता-विषयक ज्ञान होगा। यही ज्ञान फल देनेवाला है। इस प्रकार मन्त्र में चैतन्यता आती है। अतएव शास्त्रों में कहा गया है—"मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः। लक्ष-कोटिजपेनापि तस्य विद्या न सिद्ध्यति ।—शारदातागम ।" और मंत्र के अर्थ-स्मरण से मन स्थिर होता है जैसा कि कुलार्णव कहता है—"मन्त्रार्थस्मरणञ्चैव मनसः स्थिरहेतवे ।" मन्त्रार्थचिन्तन दुर्निग्रह और चल अर्थात् सर्वदा चलायमान् (चञ्चल) मन को स्थिर करता है। इसी के निरन्तर अभ्यास से मन्त्र सिद्ध होता है। तत्पश्चात् सिद्धमन्त्र के प्रयोग से फल-प्राप्ति होती है। मन्त्र देवता के रूप भेद के अनुसार होते हैं। ऐसा ही शास्त्र का प्रमाण है यथा—"यस्य यस्य च मन्त्रस्य

उद्दिष्ट या च देवता। चिन्तयित्वा तदाकारं मनसा[1] जपमाचरेत् ।—भूतशुद्धि तन्त्र”

जगदम्बा काली के मन्त्र-भेद पूर्व लिख चुके हैं। इनका प्रसिद्ध बीजमन्त्र क्रीं है, जिसको कालीवीज भी कहते हैं। परन्तु जैसा पूर्व लिख आये हैं इस वीजमंत्र के वीज, शक्ति और कीलक आधुनिक

---

[1] जप चार प्रकार के हैं यथा १ परा २ पश्यन्ती ३ मध्यमा ४ वैखरी। परा जप सिर्फ पूर्ण योगी ही कर सकता है। यह जप मूलाधार में होता है। पश्यन्ती जप अनाहत चक्र में अर्थात् हृदय में होता है। मध्यमा विशुद्ध चक्र अर्थात् तालु प्रदेश में और वैखरी जिह्वा पर। यह अनुभवगम्य ही है। संक्षेप में इतना ही लिखना यथेष्ट बोध होता है कि मन ही मन जप करना उचित है। जोर से, जिससे मन्त्र सुना जाय, जप करना निःफल है। जैसा लिखा है—“मनसा यः स्मरेत् स्तोत्रं वचसा वा मनुं जपेत्। उभयं निष्फलं देवि भिन्नभान्डोदकं यथा॥”

पद्धतियों में अशुद्ध कहे गये हैं। इस क्रीं मन्त्र का बीज है कं। ईं है शक्ति और रं (रेफ) है कीलक। जैसा कि कालीकल्प का वचन है—"कं वीजं ईं ततः शक्तिः रेफं विद्या तु कीलकम्। गुह्ये पादयोः सर्वाङ्गे सर्वाणि च प्रविन्यसेत्। एकाक्षर्यादिवीजन्तु मन्त्रेषु परिकल्पयेत्॥" ह्रीं बीज, हूं शक्ति और क्रीं कीलक तो इसी भगवती काली की विद्याराज्ञी या मन्त्रराज जो बाइस वर्ण का है, उसके हैं। मन्त्र तीनों लिंग के होते हैं। स्वाहा जिस मन्त्र के अन्त में रहे, वह स्त्री मन्त्र होने से विद्या कहलाता है। इस हेतु द्वाविंशाक्षरी विद्या राज्ञी कहलाती है। मन्त्रदीक्षा प्रथम एकाक्षर की ही होनी चाहिये। क्रम से बढ़ा कर विद्याराज्ञी की दीक्षा हो, यही कर्त्तव्य है। इसी को क्रमदीक्षा कहते हैं। एकाक्षर मन्त्र का प्रणव काली प्रणव कहा जाता है। यह चिन्तामणिकाली का मन्त्र है। इसके बाद क्रोधवीजद्वय का उपदेश होना उचित है। यह स्पर्श-मणिकाली का मन्त्र है। तब

कालीवीज, क्रोधवीज, मायावीज त्र्यक्षर मन्त्र की दीक्षा होती है। यह सन्ततिप्रदाकाली का मन्त्र है। तब सिद्धिकाली का मन्त्र (ॐ ह्रीं क्रीं मे स्वाहा) की दीक्षा होती है। तब दक्षिणकाली की विद्याराज्ञी की दीक्षा है। तक कामकलाकाली, तब हंसकाली, तब गुह्यकाली। इन सबके प्रत्येक मन्त्र का यथासाध्य सविधि पुरश्चरण करके द्वितीया विद्या माँ तारा का मन्त्रराज सार्द्ध पञ्चाक्षर की दीक्षा है, तब षोडशी की षोडशाक्षरी, पञ्चदशाक्षरी और त्र्यक्षरी विद्या (मन्त्र) की दीक्षा है। तत्पश्चात् त्रिविद्यारूपिणी छिन्नमस्ता माई की मन्त्रदीक्षा है। तब महाकाल और वटुक के मन्त्रों की दीक्षा है। यह दीक्षा का क्रम है अर्थात् क्रमदीक्षा[1]

---

[1]शक्तिसंगम काली (कादि) क्रमदीक्षा के बारे में इसी तरह कहता है—"कादौ स्पर्शमणिर्देवि तथा चिन्तामणिः पृयो सिद्धकाली महाविद्याराज्ञी कामकला ततः॥ हंसकाली गुह्यकाली वेदपञ्चरसकमात्।......मेधा प्रकीर्त्तिता।"

है। इसमें देश और गुरुक्रमानुसार भेद दीखते हैं। यह भी गुरु पर ही निर्भर है। इस क्रमदीक्षा का बड़ा माहात्म्य है। इसीलिये शास्त्रों में लिखा है—"क्रमदीक्षायुतो देवि शिव एव न चापरः।" 'क्रमदीक्षा-समायुक्तः कल्पोक्तसिद्धिभाग् भवेत्।" क्रमदीक्षा तीनों विद्याओं के विषय में निर्देशित है। यथा—"त्रि-शक्तिविषये देवि क्रमदीक्षा प्रकीर्तिता।" क्रमदीक्षा गौण नहीं है, वरन् आवश्यक है जैसा कि शास्त्रीय वचन है—"क्रमदीक्षाविहीनस्य सिद्धिहानिः पदे पदे।" यह अगण्य वचन नहीं है। यह आदिनाथोक्त महाकाल संहिता का वचन है। इस दीक्षा के बिना पूर्णाभिषेक[1] लेना उचित नहीं। जैसे पूर्णाभिषेक लेना आवश्यक

---

[1]पूर्णाभिषेक दशो महाविद्याओं के साधकों के निमित्त अनिवार्य है, जैसा कि लिखा है—"पूर्णाभिषेको देवेशि दशविद्याविधौ स्मृतः॥"

है, वैसे ही क्रमदीक्षा[१] लेना आवश्यक है। पूर्णाभिषेक का महात्म्य बहुत बड़ा है, जैसा कि लिखा है—"पूर्णाभिषेकपूता ये ते मुक्ताश्चेह कर्मणि।" पुनः "शुद्धा पूर्णाभिषेकेण शिवसायुज्यदायिना। तेन मुक्ति व्रजेदेव शाम्भवी वाक्यमब्रवीत्।" कुलमार्गावलम्बी यदि बिना पूर्णाभिषेक लिये ही मरे तो उसकी सद्गति भी नहीं होती है, जैसा कि लिखा है—"पूर्णाभिषेकहीनो यः कौलिको म्रीयते यदि। पिशाचत्वमवाप्नोति यावदाभूतसंप्लवम्॥" मेरुतन्त्र कहता है—"विना येनाभिषेकेण साधकः पूर्ण बोधताम्। आचार्यत्वं न चाप्नोति सद्गतिं च समीहिताम्॥" शक्तिसंगम यह कहता है—

---

[१]क्रमदीक्षा से भृंगित्व सुलभ होता है जैसा शक्तिसंगम कहता है—"क्रमदीक्षायुतानाञ्च भृंगित्वं सुलभं क्रमात्॥" भृंगी की व्याख्या वहीं पर यह है—"जीवकीटस्ततो भृंगी ततस्त्वेवं चराचरम्॥ तेन भृंगावली नाम योगिनामपि दुर्लभा॥"

"विना पूर्णाभिषेकेण पशुरूपः शिवोऽपि च। विना पूर्णाभिषेकेण देवता न प्रसीदति ।। विना पूर्णाभिषेकेण कालीं तारां च यो जपेत्। तस्य क्रियां हरिष्यामि वातुलो जायते नरः ।। विना पूर्णाभिषेकेण गुरुधर्मेण पार्वति। न जपो न तथा होमो न पूजा पूर्णता क्वचित् ।।" पिपिलिका गति (चींटी की चाल) में उतना जोखिम नहीं है, जितना विहंगम गति (चिड़िये की उड़ान) में है। अतएव क्रम-क्रम से (क्रमिक) एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाना उचित है। हाँ, असाधारण शक्तिसंस्कार-सम्पन्न साधकों के निमित्त यह विहंगम-गति उपयुक्त हो सकती है। परन्तु यह बहुत क्वचित् देखा जाता है। जो भी हो शास्त्र के अनुसार ही कर्त्तव्य है। इसके बारे में स्वयं श्रीकृष्णभगवान् ने गीता में कहा है—"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।"—१६ अध्याय २३ श्लोक।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि क्या पूर्णा-

भिषेक इत्यादि दक्षिणमार्गावलम्बी साधकों को उचित है कि नहीं ? इसमें मतभेद है। एकमत है कि दक्षिणाचार से नहीं हो सकता है जैसा कि शक्तिसंगम कहता है—"वाममार्गं परित्यज्य यः कालीं भक्तितोऽर्चयेत्। तस्य क्रिया च विफला महापशु रितीरितः। —ताराखण्ड—१ पटल ॥" पुनः ऐसा लिखता है—"कालिका षोडशी तारा वामाचारप्रिया मता। छिन्नमस्ता च बगला वाममार्गाधिदेवता ॥" दूसरा मत है कि हो सकता है। यहाँ पर फिर गुरु का उत्तरदायित्व आ जाता है। गुरु जैसा ठीक समझे, वैसा करने की आज्ञा दे। मेरे तुच्छ विचार से यह ठीक है कि साधक सर्वप्रथम दक्षिणाचार से दीक्षित हो पञ्चतत्वों में अनुकल्प रूपों से अर्चना[1] करते हुए पुरश्चरण कर मन्त्र को सिद्ध कर ले, तब अभिषेक ले वामाचार, जो

[1] अर्चनं त्रिविधम्। अर्हणार्चनं दानार्चनं प्रयोगविनियोगार्चनम्। —परानन्द सूत्र

दक्षिणाचार से श्रेष्ठ है, जैसा कि शास्त्र का वचन है—"सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम्। वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद् दक्षिणमुत्तमम् ॥ दक्षिणादुत्तमं वामं वामात्[1] सिद्धान्तमुत्तमम्। सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं नहि ॥—कुलार्णव।" से साधना करे। नहीं तो साधक पतित (अपने मार्ग ऊर्द्ध्वमुख मार्ग से गिर जायगा) हो जा सकता है। वामाचार का अधिकारी होना खेल नहीं है। वाममार्ग है स्वयं शिवोपदिष्ट मार्ग क्योंकि शिव का एक वैदिक नाम वाम भी है। "वामस्य मार्गः अर्थात् वामोपदिष्टमार्गः वाममार्गः।" यह साधारण बुद्धि के बाहर सोचना है कि साक्षात् महादेव का बतलाया मार्ग खराब हो। एवं प्रकार से साधन करने से साध्य की सिद्धि होती ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

[1]पारानन्दे मते त्रयो मार्गाः। दक्षिणादुत्तमं वामं वामादुत्तरमुत्तमम्। उत्तरादुत्तमं किञ्चिन्नैव ब्रह्माण्डमण्डले

अब परिशिष्ट को और विस्तृत न कर केवल एक विषय का उल्लेख करना उचित है। वह यह है कि जब हम ईश्वर की साधना या उपासना स्त्री रूप में करते हैं तो "स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु" इस वाक्य को ध्यान में रख स्वशक्ति, जो भोग्या शक्ति है, को छोड़ सब शक्ति (स्त्री) यों में पूज्याशक्ति की भावना रख मातृवत् आचरण (व्यवहार) करना आवश्यक है। कारण "यत्र[1] नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"। प्रत्येक स्त्री (परस्त्री) के प्रति मातृवत् आचरण करना ही "माँ" की भक्ति है। कुवासना होते ही "माँ" अप्रसन्ना होती

[1]शक्तिसंगम नारी (स्त्री) की महिमा इस प्रकार गाता है—"नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी ।। नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी ।।" ताराखन्डे १३ पटल "स्त्रियो देवाः स्त्रियः प्राणाः स्त्रिय एव हि भूषणम्। स्त्रीणां निन्दा न कर्त्तव्या न च ताः क्रोधयेदपि।"—परानन्द

है, विशेषतः कुलमार्गावलम्बियों से। इसका ज्वलन्त उदाहरण बंगाल के प्रसिद्ध साधक राजा प्रतापादित्य हो गये हैं। उनका अपराध था एक युवती भंगिन का स्तन भ्रमवशात् काटने का हुकम देना। इसकी कथा इस प्रकार है। महाराज प्रतापदित्य के यहाँ एक युवती भंगिन झाड़ू देने आयी। प्रथम दिन उसका अञ्चल का कपड़ा हवा से या असावधानी से हट गया। महाराज ने नजर फेर ली। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। इस पर महाराज ने मना करवाया। मगर भावी को कौन रोक सकता है। तीसरे दिन भ ऐसा ही हुआ। प्रतापादित्य बड़े कर्त्तव्यनिष्ठ और धर्म्मपरायण थे। उन्हें यह भासित हुआ कि भंगिन मुझे प्रलोभित कर रही है। अतएव क्रोध में स्तन काट लेने की आज्ञा दी। प्रातःकाल क्या देखते हैं तो इष्टदेवता की मूर्त्ति का मुँह घूमा है। इस पर सशंकित हो अपने गुरु से कहा। हस्तलिपि की गयी। उत्तर में यह श्लोक लिखा मिला—"शुम्भत्रिलोकविजयी

निहतो निशुम्भः संग्राममूर्ध्नि निरुतो महिषासुरश्च । साहं सुरासुरनरार्कितपादपद्माकीटोपमेन मनुजेन कृतापमाना । "

इस कोप का यह फल हुआ कि महाराज मानसिंह द्वारा प्रतापादित्य मारे गये । राज्य छिन गया । सब कुछ हो गया । उनकी इष्टमूर्त्ति जयपूर ले जायी गयी, जिसका आज तक वैसा ही मुंह घुमा हुआ मौजूद है । इसलिये साधकों को नारी मात्र का कायेन मनसा और वाचा अपमान न करना आवश्यक है । इतन ही नहीं, सम्मान करे जिससे "माँ" प्रसन्ना होती है और साधक की मनोकामना की पूर्त्ति होती है ।

पुरश्चरण के विषय में भी दो चार बातों का समावेश उपयुक्त होगा । पुरश्चरण करना आवश्यक है । गुरूपदिष्ट विधि से मन्त्र का पुरश्चरण पञ्चांग सहित करे । मंत्र के वर्णों के अनुसार ही उतना लक्ष (लाख) जप करना होता है । यथा एकाक्षर बीजमन्त्र का एक लाख, द्वयक्षर मन्त्र का दो, पञ्चाक्षर का पाँच, इसी क्रम से बाइस अक्षर का बाइस लाख जप

करना होता है। किन्तु शास्त्र में यदि संख्या निर्दिष्ट रहे तो उसी के अनुसार संख्या का जप विहित है। पुरश्चरण का पञ्चांग है—जप, हवन, तर्पण, मार्जन (अभिषेक) और ब्राह्मण-भोजन। जप का दशांश हवन, तद् दशांश तर्पण तद् दशांश मार्जन और तद् दशांश ब्राह्मण-भोजन। इन पञ्चांगों के भिन्न भिन्न फल हैं यथा जप से सिद्धिं,हवन से ऐश्वर्य्य(विभूतिं चाग्निकार्य्येषु), तर्पण से देवता की तृप्ति, मार्जन से ग्रहादिदोष-निवारण, और ब्राह्मण-भोजन से कर्म की अछिद्रता। पुरश्चरण की संख्या "कलौ संख्या चतुर्गुणा" शास्त्रों में निर्दिष्ट है, परन्तु मेरा तुच्छ विचार है कि चार ही बार में इस घोर कलिकाल में मन्त्रसिद्धि नहीं हो सकती है। तब भी कुछ न कुछ मन्त्र में सामर्थ्य हो जाता है। उचित तो यही है कि जबतक मन्त्र में काफी सामर्थ्य न आवे, पुरश्चरण करता ही रहे। इस (पुरश्चरण) की विधि, नियम, दिक्काल स्थान (कूर्म विचार) इत्यादि

का ज्ञान आवश्यक है। यह गुरु द्वारा बोध करना उचित है। किन्तु इसमें मेरे तुच्छ विचार में दो बातों का नियम अत्यावश्यक है। एक तो जब तक पुरश्चरण करे पूरा पूरा ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण किये रहे। और जहाँ तक हो एकान्त में (संगविहीन) रहे। इस प्रकार के साधकों की सफलता अवश्यंभावी है। नहीं तो विधिहीन पुरश्चरण का करना स्वांग भरना मात्र है।

"जापर जाके सत्यसनेहू ताहि मिलहि न कछु संदेहू"। मैं तो यही जानता हूँ। सच्चा अनुराग होना चाहिये। अर्थात् निष्कामोपासना की धारणा हो। इसका मीठा फल मिलता ही है। सकामोपासना बाजारी सौदा है। कर्म रूपी कीमत पास में रहे तो बाजार से उतने ही कीमत का सौदा मिलेगा। वह भी अगर रुपया (सिक्का) खोटा रहा, चवन्नी इत्यादि घिसी रही, करेन्सी नोट स्याही से खराब रहा तो सौदा नहीं मिलने का। और यहाँ निष्कामोपासना में

विधि की जरूरत नहीं । जरूरत है सच्चे इश्क की। किसी उर्दू कवि ने कितना ठीक कहा है—"मेहरबां हो जायेंगे दर्दे जिगर होने तो दो। खुद चले आयेंगे नालों में असर होने तो दो।" अगर हम स्वामी रामकृष्ण परमहंस की तरह केवल "माँ ओ माँ" कहकर रोएँ और खूब रोएँ तो बिना जप-तप किये ही "माँ" चली आयगी और हमें गोद में ले लेगी। इससे बेशी अब निर्बल लेखनी में शक्ति नहीं।

जय हो माँ की और जय हो "माँ" के बेटों की।

ॐ शम् । शन्नः कौलिकः ॥

(समाप्त)

———

मुद्रक—आर० एन० अवस्थी,
के० पी० प्रेस एण्ड प्रिन्टिङ्ग स्कूल, इलाहाबाद ।